(२०) चतुर्विंशति प्रबंध

[लेखक — पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर ।]

जैन विद्वानों ने प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियों को प्रबंधों द्वारा सुरक्षित करने का जो श्रम किया है, वह धन्यवादार्ह है। श्री ऋषभदेव से लेकर वर्धमान पर्यन्त जिनों की, चक्री आदि राजाओं की, एवं आर्यरक्षित आदि ऋषियों की जीवनियों के ग्रंथ "चरित" कहलाते हैं और इनसे पश्चात्कालीन पुरुषों के वृत्तान्त-वाले ग्रंथ "प्रबंध" कहलाते हैं। ऐसे प्रबंधों में से एक "चतुर्विंशति प्रबन्ध" है, जिसकी रचना श्रीतिलकसूरि के शिष्य श्रीराजशेखर ने दिल्ली में जेठ सुदी पंचमी वि० सं० १४०५ को की थी। ग्रंथकर्ता श्रीप्रश्नवाहन कुल "कोटिक" गण, "मध्यम" शाखा और "हर्षपुरी" गच्छ में "मलधारी" विरुद से प्रसिद्ध श्रीअभयसूरि की संतति (शिष्य वर्ग) में था और उसने महणसिंह विजयी की प्रेरणा से इस ग्रंथ की, जिसका दूसरा नाम "प्रबन्ध कोश" भी है, रचना की थी। महणसिंह के विषय में राजशेखर ने लिखा है कि वह षड्-दर्शन का पोषक था और उसका पिता सकल सामंत-तिलक जगत्-सिंह था, जिसने दुर्भिक्ष में दीनों को बहुत सहायता दी और मुहम्मद शाह से सन्मान प्राप्त किया था। जगतसिंह के पिता का नाम "छाढक" और दादा का नाम "नूनक" था। नूनक का पिता "गण-देव" सपाद लक्ष में उत्पन्न हुआ था और उसके पिता "बप्पक" ने वड्डूलीपुर में जिनपति-सदन बनवाकर बहुत यश प्राप्त किया था।

जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से प्रतीत होता है, इसमें २४

प्रबंध हैं * और दो चार को छोड़ सब के सब जैन-धर्मावलम्बी पुरुषों के विषय में लिखे गए हैं। इनमें सब से बड़ा तथा अधिक महत्व का प्रबन्ध "वस्तुपाल" के विषय में है। इसकी चर्चा "सोमेश्वरदेव और कीर्तिकौमुदी" लेख में पहले की जा चुकी है। विक्रमादित्य के विषय में भी एक प्रबन्ध है; परंतु उससे चमत्कृत कहानियों के अतिरिक्त कोई गौरव-पूर्ण बात नहीं ज्ञात होती। ऐसा ही वत्सराज उदयन के विषय का प्रबंध है। हम इन २४ प्रबंधों में से दो प्रबंधों का सार पत्रिका के पाठकों को भेंट करते हैं। आशा है, इससे पाठक गण इस ग्रंथ की शैली का अनुमान कर लेंगे। वे दो प्रबंध "भद्रबाहु वराह प्रबंध" और "हर्ष कवि प्रबंध" हैं। वराह और हर्ष दोनों ही सुप्रसिद्ध व्यक्ति हैं और आज कल के विद्वानों ने इनके विषय में बहुत कुछ अन्वेषण किया है। परंतु हमारा तात्पर्य इस समय यह बतलाने का है कि राजशेखर इनके विषय में क्या मानता अथवा जानता था। जहाँ तक हमें ज्ञात है, श्रीहर्ष की जीवनी राजशेखर को छोड़कर किसी प्राचीन विद्वान् ने नहीं लिखी है।

भद्रबाहु वराह प्रबन्ध

दक्षिण देश के प्रतिष्ठानपुर में भद्रबाहु और वराह नाम के दो ब्राह्मणकुमार रहते थे। यद्यपि वे निर्धन और निराश्रय थे, परंतु निर्बुद्धि नहीं थे। एक समय यशोभद्र नामक एक जैन विद्वान् वहाँ पर आए और उन्होंने व्याख्यान देते हुए सांसारिक भोगों को क्षण-

* २४ प्रबंध इस प्रकार हैं—१ भद्रबाहु वराह। २ आर्य नन्दिल। ३ जीवदेव सूरि। ४ खपुटाचार्य। ५ पादलिप्ताचार्य। ६ वृद्धवादी सिद्धसेन सूरि। ७ मल्लवादी। ८ हरिभद्र सूरि। ९ बप्प भट्टि सूरि। १० हेमचन्द्र सूरि। ११ हर्ष कवि। १२ हरिहर कवि। १३ अमर सूरि। १४ मदन कीर्ति। १५ सातवाहन। १६ वङ्कचूल। १७ विक्रमादित्य। १८ नागार्जुन। १९ वत्सराज उदयन। २० लक्ष्मणसेन। २१ मदनवर्मा। २२ रत्नश्रावक। २३ आभड। और २४ वस्तुपाल।

भंगुर और चित्त को स्थिर कर आत्म तत्त्व के चिंतन को बहुत महत्त्व को सिद्ध किया। भद्रबाहु और वराह भी उस उपदेश को सुन रहे थे और इन दोनों भाइयों* पर उसका ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा कि इन्होंने त्याग स्वीकार कर लिया। भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी और छत्तीस गुण-संपूर्ण सूरि हुआ। उसने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, आवश्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, सूत्रकृत, आचारांग और ऋषिभाषित ये दस ग्रंथ एवं भाद्रबाहवी नाम की संहिता की रचना की। उस समय आर्यसंभूत विजय भी चतुर्दशपूर्वी हो गए थे। उनकी और भद्रबाहु की यशोभद्र सूरि के स्वर्गवास हो जाने के कारण सब से अधिक मैत्री हो गई थी। वराह भी कुछ कम विद्वान् नहीं था। वह भी "सूरि" पद की आकांक्षा करने लगा। परंतु भद्रबाहु ने कहा कि वत्स! तुम विद्वान् हो, क्रियावान् हो; परंतु तुम में गर्व की मात्रा बहुत है। घमंडी को सूरि पद नहीं दिया जा सकता। भाई की यह उक्ति, जो किसी अंश में सच्ची भी थी, इसके मन को नहीं भाई और इसने जैन व्रत त्याग अपना पूर्व का विप्र-वेश ग्रहण कर लिया। विद्या तो यह पढ़ ही चुका था। अब इसने वाराह संहितादि नवीन शास्त्रों की साभिमान रचना की और लोगों से कहने लगा कि मैंने बचपन में ही लग्न साधने का अभ्यास कर लिया था। एक बार प्रतिष्ठानपुर के बाहर शिला पर मैंने लग्न लिखा और उसे बिना मिटाए ही अपने

* भद्रबाहु और वराह (वराह मिहिर) न तो दोनों भाई थे और न समकालीन थे। भद्रबाहु और संभूतिविजय सूरि दोनों यशोभद्र स्वामी के शिष्य थे, ऐसा जैन ग्रंथों से पाया जाता है। जैन ग्रंथकार संभूतिविजय सूरि का स्वर्गवास वीर संवत् १५६ (वि. सं. से पूर्व ३१४) में होना मानते हैं। वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में गणित का आरंभ शक संवत् ४२७ (वि. सं. ५६२) से किया है जिससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर ने उक्त ग्रंथ की रचना उक्त वर्ष में की। वराहमिहिर दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के निवासी भी नहीं थे। वे अपने 'बृहज्जातक' में अपने को 'आवंतिक' अर्थात् अवंती (मालवे) का रहनेवाला बतलाते हैं। सारा 'भद्रबाहु वराह प्रबंध' कपोल-कल्पित प्रतीत होता है। सम्पादक।

स्थान पर आकर सो गया। फिर स्वप्न में उस लग्न का ही विचार आया; मानो मैं उसे मिटाने को वहाँ जा रहा हूँ। परंतु क्या देखता हूँ कि उस शिला पर एक सिंह बैठा हुआ है। मैंने उसका तनिक भी विचार नहीं किया। चट निर्भय रूप से अपना हाथ उसके पेट के नीचे डाल लग्न मिटा दिया। परंतु ज्यों ही मैंने ऐसा किया, त्यों ही वह सिंह सहसा साक्षात् सूर्य्य बन गया और मुझ से कहने लगा कि वत्स! मैं तेरी दृढ़ता और लग्न ग्रह की भक्ति से प्रसन्न हुआ हूँ। मैं साक्षात् सूर्य्य हूँ। तू वर माँग। मैंने उत्तर दिया कि स्वामिन्! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे अपने विमान में बैठा समस्त ज्योतिश्चक्र के दर्शन कराइए। उन्होंने ऐसा ही किया। मैंने खूब सैर की और उनके अमृत प्रदान के प्रभाव से न मुझे भूख लगी न प्यास लगी। यों कृतकृत्य हो उनकी अनुमति ले इस ज्ञान से जगत का उपकार करने को मैं महीतल पर उतरा हूँ। मैं "वराह मिहिर" हूँ। यों अपनी प्रसिद्धि कर यह इतना पूजा गया कि प्रतिष्ठानपुर के शत्रुजित् नरेश ने उसे अपना पुरोहित बना लिया। अब वह श्वेताम्बरों की पेट भर निन्दा करने लगा और कहने लगा कि ये बेचारे कौवे क्या जानें? मक्खियों की तरह भिनभिनाते हुए क़ैदियों के से कुवस्त्र पहनते हुए काल काटते हैं। खैर, काटने दो। ऐसे शब्दों से श्रावकों के शिरों में शूल उत्पन्न होने लगा। परंतु करें क्या? वराह कलावान् था। राजा भी उसका सन्मान करता था। श्रावकों ने सलाह करके भद्रबाहु को अपने नगर में बुलवाया और समारोह के साथ उनका प्रवेशोत्सव किया और उनके व्याख्यान प्रारंभ करवाए। उसी अवसर पर वराह मिहिर के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसकी उसने सौ वर्ष की आयु बतलाई। बालक का जन्मोत्सव बड़ी धूम धाम से मनाया गया। लोगों ने बड़ी बड़ी बधाइयाँ दीं। ऐसे पुत्रजन्म महोत्सव के अवसर पर अपने सहोदर भद्रबाहु का उसी नगर में विद्यमान होते हुए भी

सम्मिलित न होना वराहमिहिर को बहुत खटका। लोगों ने भी भद्रबाहु से कहा कि आप वहाँ चलें तो अच्छा हो। व्यर्थ मनोमालिन्य बढ़ाने में क्या सार है? यह सुन भद्रबाहु ने कहा कि दो बार चलने से क्या लाभ है? यह बालक सातवें दिन बिल्ली से मारा जायगा। उस समय भी तो बैठने के लिये (शोक-विसर्जन के लिये) चलना पड़ेगा। उन लोगों ने कहा कि वराहमिहिर ने तो शिशु को सौ वर्ष की आयु बतलाई है। इस पर सूरिजी ने कहा—क्या डर है! अवधि समीप ही है; सच झूठ परख लेना। दैव योग से ऐसा हुआ कि सातवें दिन जब दो पहर रात बीतने पर धाय उसे दूध पिलाने लगी तब उस बालक पर, किसी मनुष्य के संचार से द्वार का लोहे का आगल, जिस पर बिल्ली का चित्र खुदा हुआ था, गिर पड़ा और वह मर गया। इस से श्रावकों की खूब बन आई। वराहमिहिर शोक-ग्रस्त हो ज्योतिष के ग्रंथों की निन्दा करने लगा। परंतु भद्रबाहु ने कहा—शास्त्र सत्य हैं। केवल तुम्हारे निर्णय करने में भूल रह गई थी। राजा ने भी सब बातें सुनीं और श्रावक धर्म अंगीकार किया। वराहमिहिर और भी अधिक जैनधर्म-द्वेषी हो गया।

हर्ष कवि प्रबन्ध

बनारस में गोविन्दचन्द्र नामक एक राजा हुआ जिसके ७५० रानियाँ थीं। वह अपने पुत्र जयन्तचन्द्र*को राज्य देकर योग द्वारा परलोक साधने लगा। इस राजकुमार ने ७०० योजन पृथ्वी जीती। इसके

* यद्यपि राजशेखर के छपे हुए प्रबन्ध में गोविन्दचन्द्र के पश्चात् जयन्तचन्द्र ही नाम मिलता है, परंतु यह भूल है, क्योंकि जयचन्द्र के एक दानपत्र से सिद्ध है कि वह गोविंदचंद्र का पौत्र और विजयचंद्र का पुत्र था! जैत्रचंद्र, जयन्तचंद्र, जयचंद्र और जयचन्द एक ही पुरुष के सूचक हैं। कन्नौज का राजा जयचन्द, जो पृथ्वीराज के समय में विद्यमान था, यही है।

मेघचंद्र * नामक पुत्र हुआ जो अपने सिंह नाद से मदोन्मत्त हाथियों को तो क्या, सिंहों तक को परास्त कर सकता था। उस राजा के प्रयाण करते समय उसकी महती सेना की प्यास बिना गंगा यमुना के जल के नहीं बुझ सकती थी। इसलिये दो नदी रूपी लकड़ियों को ग्रहण कर चल सकने से वह राजा "पंगुल" संज्ञा से संसार में प्रसिद्ध हुआ। उसकी एक गोमती दासी ही साठ हजार घोड़ों पर प्रक्खरां† डालकर शत्रु की सेना को भयभीत कर देती थी। राजा के श्रम करने की तो नौबत ही नहीं आती थी। उस राजा के यहाँ अनेक विद्वान् थे जिनमें एक "हीर" नामक ब्राह्मण था, जिसका पुत्र प्राज्ञ चक्रवर्ती श्रीहर्ष हुआ। जब श्रीहर्ष बालक ही था, तब एक अवसर पर एक वादी ने राजा के समक्ष हीर को पराजित कर मुद्रित-वदन कर दिया। इस अपमान का शूल उसे जीवन भर रहा; यहाँ तक कि मरते समय उसने अपने पुत्र श्रीहर्ष से कहा कि यदि तू सुपुत्र है, तो तू राजसभा में उस पुरुष को पराजित करना। पुत्र ने यह आज्ञा स्वीकार की और पिता ने तुरंत परलोक को पयान किया। श्रीहर्ष ने अपने कुटुंब का भार समझदार नजदीकी रिश्तेदारों पर छोड़ विदेश जा विविध आचार्यों से अल्प काल में ही तर्क, अलङ्कार, गीत, गणित, ज्योतिष, मंत्र, व्याकरणादि सब चमत्कारी विद्याएँ सीख लीं और पूज्य गुरु के बताए हुए चिंतामणि मंत्र को गंगा के किनारे एक वर्ष तक

---

* जयचन्द के पुत्र का नाम मेघचन्द्र नहीं किंतु हरिश्चन्द्र था, जैसा कि जयचन्द्र के दानपत्रों से पाया जाता है।

† प्रक्खार—पाखर। जैसे युद्ध के समय योद्धा अपने शरीर की रक्षा के लिये कवच (बक्तर) पहनते थे, वैसे ही घोड़ों और हाथियों की रक्षा के लिये उन पर पाखर डाली जाती थी। पाखर मोटे मोटे वस्त्रों से बनाई जाती थी और उनके बीच में लोहे की चपटी शलाकाएँ या गुथी हुई लोहे की जाली रहती थी जिससे शत्रु के बाण, तलवार, भाले आदि शस्त्रों से उनके शरीर की रक्षा होती थी। ऐसी पाखरें अब तक राजाओं तथा सरदारों के यहाँ बहुत सी पाई जाती हैं और कभी कभी सवारियों आदि में उनका उपयोग भी किया जाता है।

सावधानी से साधता रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे त्रिपुरा (एक देवी) के साक्षात् दर्शन हुए और "तेरा आदेश अमोघ होगा" इत्यादि वर प्राप्त हुए। तदनंतर वह राज-सभाओं में विचरने लगा और ऐसी ऐसी उक्तियाँ कहने लगा कि जिनमें अलौकिक उदाहरणों का समावेश होता था और जिन्हें कोई समझ ही नहीं सकता था। लोगों की समझ में भी न आ सके, ऐसी अपनी अति विद्या से वह खिन्न हो गया। फिर सरस्वती को प्रत्यक्ष कर उसने कहा—माता! यह अति-प्रज्ञा भी मेरे लिये दोष के समान हो गई है; क्योंकि मेरे वचनों को तो लोग समझते ही नहीं। इसलिये ऐसी युक्ति कीजिए जिससे मेरी गिरा ऐसी हो जाय कि लोग उसे समझ सकें। तब देवी ने कहा—अच्छा तू आधी रात को सिर भिगोकर दही पीकर सो जाना। कफ के अंश की उत्पत्ति से तुझ में कुछ जड़ता का अंश आ जायगा। उसने वैसा ही किया और फिर वह ऐसे वचनोंवाला हो गया जिन्हें लोग समझने लगे। तदनन्तर उसने खण्डनादि सौ से भी अधिक ग्रंथ रचे* और कृतकृत्य हो काशी में आया। वहाँ नगर के बाहर ठहर जयंतचंद्र से कहलाया कि मैं विद्या पढ़कर आ गया हूँ। गुणानुरागी राजा अपने साथ हीर को जीतनेवाले पंडित को तथा चारों वर्णों के मुखियाओं को लेकर स्वागत करने गया और देखते ही श्रीहर्ष को नमस्कार किया। उसने भी सब के साथ यथायोग्य बर्ताव किया और राजा की स्तुति में निम्न लिखित श्लोक कहा—

---

* इस समय हर्ष के दो ग्रंथ खंडनखंडखाद्य और नैषधचरित बहुत प्रसिद्ध हैं। पिछले ग्रंथ में कवि ने अपने रचे 'स्थैर्य विचार,' 'श्री विजयप्रशस्ति,' 'गौडोर्वीश कुल प्रशस्ति,' 'अर्णव वर्णन,' 'छंद प्रशस्ति' 'शिव शक्ति सिद्धि' और 'साहसांकचरित' ग्रंथों के नाम लिए हैं। बहुत संभव है, खोज करने से कदाचित् इस कवि के अन्य ग्रंथ उपलब्ध हो जायँ। सरस्वती की जो कथा लिखी है, उससे यह अनुमान होता है कि श्रीहर्ष ने प्रारंभ में ही क्लिष्ट रचनावाले ग्रंथ बनाए। संस्कृत के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से क्लिष्टतर ग्रंथ लिखने में अधिक गौरव समझा, यह बात निर्विवाद है।

गोविंदनंदनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः ।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ॥

आशय—गोविंदनंदन (गोविंदचंद्र का पुत्र, श्रीकृष्ण का पुत्र) होने तथा शरीर से रूपवान् होने से हे स्त्रियो ! तुम कहीं इस (जयंतचंद्र) राजा में काम (प्रद्युम्न) बुद्धि मत कर बैठना । देखो, कामदेव तो अपनी विजय में स्त्री को अस्त्री करता है (अर्थात् अपना अस्त्र बनाता है) परंतु यह अस्त्री (अर्थात् अस्त्रधारी) को स्त्री बना देता है ।

उसने इस पद की उच्च स्वर से सविस्तर सरस व्याख्या की जिसे सुन सब सभ्य और सम्राट् प्रसन्न हो गए । तदनंतर पितृवैरी वादी को देखकर वह सकटाक्ष बोला—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रंथिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

आशय—साहित्य जैसी सुकुमार वस्तु में तथा कड़े गठीले तर्क में मेरे लिये भारती समान लीलावाली है; क्योंकि चाहे कोमल शय्या हो, चाहे घास फूस की भूमि हो, स्त्रियों को यदि पति हृदयंगम है, तो दोनों एक सी ही आनंददायक होती हैं ।

यह सुनकर उस वादी ने कहा—देव ! वादींद्र ! भारतीसिद्ध ! आपके समान कोई नहीं है । और की तो बात ही क्या, देखिए—

हिंस्राः संति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्य वीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते ॥

आशय—यों तो अपने शौण्डीर्य और वीर्य से उद्धत हिंसक पशु वन में सहस्रों हो हैं, परंतु हम तो उस लोकोत्तर पराक्रमी एक सिंह ही की प्रशंसा करते हैं जिसकी साहंकार हुंकार को सुनकर कोलकुलों (सूअरों) ने केलि, मदकलों (मस्त हाथियों) ने मद, नाहलों (नाहरों) ने कोलाहल और भैंसों ने हर्ष त्याग दिया।

यह सुन हर्ष का क्रोध उतर गया। राजा ने भी उस पंडित की इस समयोचित उक्ति की सराहना की और उसका तथा श्रीहर्ष का गाढ आलिंगन करा दिया और खूब धूमधाम के साथ श्रीहर्ष को एक लाख सुवर्ण मुद्रा भेंट कर विदा किया। एक दिन राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि हे कवीश ! वादींद्र ! आप कोई प्रबन्ध रत्न रचें तो बहुत उत्तम हो। राजा की इस प्रेरणा पर उसने दिव्य रस और महा गूढ़ व्यंग्य से भरी हुई उक्तियोंवाला नैषध काव्य रचा, जिसे देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि आप कश्मीर पधारकर वहाँ के पंडितों को इसे दिखावें। वहाँ सरस्वती साक्षात् स्वरूप से निवास करती है। उसके हाथ में यदि असत्य प्रबंध (ग्रंथ) रख दिया जाय तो उसे कूड़े करकट की तरह वह दूर फेंक देती है; और जो सत्य होता है, उसके प्रति सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रकट करती है और उस घड़ी ऊपर से पुष्प-वृष्टि हुआ करती है। श्रीहर्ष राजा के दिए धन से, बहुत ठाट बाट के साथ कश्मीर गया और सरस्वती के हाथ में पुस्तक रक्खी; परंतु उसने उसे दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्ष ने कहा कि क्या बुढ़ापे के कारण तू मन्द-मति हो गई है ? मेरे प्रबंध को भी ऐरे गैरे प्रबन्धों की तरह समझती है ? सरस्वती ने कहा—हे परमर्मभाषक, तुझे याद नहीं आता कि तूने ग्यारहवें सर्ग के चौंसठवें श्लोक* में मुझे विष्णु-पत्नी

---

* यह नारायण पंडित की टीका सहित बंबई में छपे हुए ग्रंथ के ग्यारहवें सर्ग का ६६ वाँ श्लोक है—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥

बताकर मेरे संसार-प्रसिद्ध कन्याभाव का लोप कर डाला। इस इसी लिये मैंने तेरी पुस्तक फेंक दी; क्योंकि—

याचको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगहेतवः॥

आशय—याचक, वंचक, व्याधि, मृत्यु और मर्मभाषक ये पाँचों योगियों तक में भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

सरस्वती के ये वचन सुन श्रीहर्ष ने कहा कि तुम ने एक अवतार में नारायण को पति बनाने की क्यों इच्छा की? पुराणों में भी तुम को विष्णु-पत्नी कह रखा है। ऐसी अवस्था में जब मैंने सत्य बात कही, तब उस पर क्यों कुपित होती हो? यह उत्तर सुन सरस्वती ने अपने आप उस पुस्तक को अपने हाथ में ले लिया और सभा में ग्रंथ की प्रशंसा हुई। श्रीहर्ष ने वहाँ के पंडितों से कहा कि आप मेरे इस ग्रंथ को यहाँ के राजा माधवदेव * को दिखावें और श्री जयन्तचंद्र के नाम इस काव्य के निर्दोष होने के विषय में लेख लिखवावें। उन लोगों ने इस ग्रंथ को सुनकर भी और शारदा की पूर्व अनुमति हो जाने पर भी न तो श्रीहर्ष को प्रमाणपत्र दिया, न वह ग्रंथ राजा को दिखाया। श्रीहर्ष को प्रतीक्षा में रहते रहते महीनों हो गए। उसका मार्ग का

दमयंती के स्वयंवर में देश देश के राजा और राजाओं के स्वरूप में देवता आए हुए थे। राजकुमारी वरमाला लिए रंगस्थल में पधारी और सरस्वती उसे आए हुओं का परिचय कराने लगी। कवि वर्णन करता है कि चतुर्भुज विष्णु भगवान का वाम भाग जिससे सुशोभित है, ऐसी सरस्वती देवी ने राजकुमारी दमयंती को सगौरव मनोहर वाक्य कहे कि हे बाले! तू इस राजा से, जिसका हाथ शत्रुओं के लिये निर्दय कृपाण धारण करनेवाला है, विवाह करके गुणों के गण पर अनुग्रह कर।

* श्रीहर्ष के समय माधवदेव नाम का कोई राजा काश्मीर में नहीं हुआ। श्रीहर्ष जयचन्द्र के दरबार का कवि था। जयचन्द्र ने वि० सं० १२२६ से १२५० तक राज्य किया। उक्त समय काश्मीर में गोप्पदेव (बोप्पदेव) और जस्सुदेव राजा हुए थे।

सामान पूरा हो चला। यहाँ तक कि उसको अपने बैल आदि भी बेचने पड़े और असबाब भी कम रह गया। अब दैवयोग से ऐसा हुआ कि एक दिन जब श्रीहर्ष नदी के समीप किसी मंदिर में, जिसके पास ही एक कूप था, चुपचाप रुद्र जप कर रहा था, दो गृहस्थों की चेटियों में लड़ाई हो पड़ी। एक कहती थी—मैं पहले जल भरूँगी। दूसरी कहती थी—नहीं, तू कैसे भरेगी? मैं पहले भरूँगी। यों बहुत देर तक तो उनमें वादविवाद होता रहा। फिर मारपीट प्रारंभ हो गई। यहाँ तक कि सिर फूट गए और मामला राज-दरबार में पहुँचा। राजा ने गवाही तलब की। उन्होंने कहा कि वहाँ एक ब्राह्मण जप कर रहा था। और कोई नहीं था। तदनन्तर सिपाही वहाँ पहुँचे। वे श्रीहर्ष को ले आए और उससे झगड़े के विषय में पूछा। उसने संस्कृत भाषा में उत्तर देते हुए कहा कि देव! मैं विदेशी हूँ; अतः यह तो मैं नहीं समझता कि यहाँ की भाषा बोलनेवाली इन स्त्रियों ने क्या कहा। हाँ, उनके मुख से निकले हुए शब्द मुझ को याद हैं। राजा ने कहा—अच्छा, जो कोई शब्द तुमको याद रहे हों, वे ही सुनाओ। तब श्रीहर्ष ने क्रम-पूर्वक उनकी सैकड़ों उक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ सुना डालीं। राजा आश्चर्य में मग्न हो गया। श्रीहर्ष की प्रज्ञा और अवधारण पर वाह वाह करने लगा और दासियों के वादविवाद का निर्णय कर यथा संभव निग्रह अनुग्रह कर उन्हें बिदा किया; और श्रीहर्ष से पूछा कि हे अपूर्व मेधिर शिरोमणि! आप कौन हैं? इस सुअवसर पर श्रीहर्ष ने अपनी सारी कथा वर्णन करते हुए कहा कि राजन्! यों मैं पंडितों के दौर्जन्य से दुःखपूर्वक आप के नगर में निवास कर रहा हूँ। अब यथार्थ बात जानकर राजा ने पंडितों को बुलाकर कहा—धिक्कार है तुम्हें, मूर्खो! ऐसे रत्न में भी तुम्हारी रति नहीं।

वरं प्रज्वलिते वह्नावहाय निहितं वपुः।
न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः॥

वर सा निर्गुणावस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी ।
गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमनसामपि ॥

आशय—सच समझो, दहकती हुई आग में देह जलाकर मर जाना किसी कदर अच्छा है, परंतु गुण-संपन्न में तनिक भी गुणद्वेषी होना अच्छा नहीं । ऐसी निर्गुण अवस्था, जिसमें कोई अन्य शुभद्वेषी नहीं होता, सराहनीय है । गुण (सूत का तागा) के योग में सुमन (फूल, सहृदय, देवता) का विमुख होना देखा जाता है ।

इसलिये तुम लोग दुष्ट हो । बस जाओ और तुममें से प्रत्येक पुरुष इस महात्मा का अपने घर में सत्कार करो । इस अवसर पर श्रीहर्ष ने निम्नलिखित (चुभता हुआ) श्लोक कहा—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तः करणहरणं केव (नैव ?) कुरुते ।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः ॥

आशय—परम रमणीय रमणी जैसे युवाओं का चित्त हरण करती है, वैसे बालकों का नहीं करती । जब मेरी उक्ति बुद्धिमानों के मन में अमृत बन कर प्रमोद करती है, तब उसे अरसिक पुरुषों के आराधन की क्या आवश्यकता है ?

इससे पंडित लोग बहुत लज्जित हुए और सब ने श्रीहर्ष को अपने अपने घर ले जाकर उनका सत्कार किया । राजा ने भी इन सत्कारज्ञ पुरुषों के साथ उसे काशी को विदा किया । वहाँ जाकर वह जयन्तचंद्र से मिला और अपना सब वृत्तान्त वर्णन किया, जिसे सुन राजा बहुत प्रसन्न हुआ और तदनन्तर नैषध काव्य * का संसार में खूब प्रचार हुआ ।

* इस काव्य पर २३ टीकाओं का लिखा जाना इसकी प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण है । उनमें से ६ टोकायें तो अभी तक विद्यमान हैं ।

एक बार जयन्तचंद्र का पद्माकर नामक प्रधान मंत्री अणहिलपत्तन (पाटण, गुजरात की राजधानी) गया और वहाँ उसने धोबी से धोई जाती हुई एक साड़ी देखी, जिस पर केतकी के समान भ्रमरों का

बयाने के जती जी के यहाँ करीब ३०० वर्ष पहले की लिखी हुई नैषध की टीका नरहरि पंडित की है जिसके अंत में श्रीहर्ष का वृत्तान्त इस तरह दिया है—

अथ नैषधीय टीकायाः प्रशस्तिर्लिख्यते ।

प्राच्यामुच्चैस्तीरभुक्ताभिधान-
स्कंधावारे प्राज्यसाम्राज्यधाम्नि ।
त्रैविद्या (द्यो)भूद्विप्रहीरागजन्मा
श्रीहर्षः श्री केलिविश्वंभर श्रीः ॥ १ ॥
राज्ञां मान्यो देवतापूरिताशः
पार्श्वप्रेंखत्कामिनीवृंदचंद्रः ।
वाग्ब्रह्मोक्तः सोन्यदा नैषधाख्यं
साहित्यांगं नव्य काव्यं व्यधत्त ॥ २ ॥
निजात्पुरात्प्राप वराणसीं स
लात्वा कवित्वं कविरंगभूमिं ।
तत्रास्ति च व्यक्तिविवेकनामा-
लंकारकर्ता महिमप्रसादः ॥ ३ ॥
तद्व (द्व)द्विपूतं प्रविधाय कन्या-
कुब्जे समागान्नृपजैत्रचंद्रं ।
तद्दानमानप्रकृतप्रभूता
प्रादुर्भूत सौभाग्यरसः कवीन्द्रः ॥ ४ ॥
मोखेश्वरी नैषधकाव्यटीका
गदाधरी सा विवृतिः प्रभूता ।
गुंद्रेयभट्टस्य तदीयवृत्ति-
ष्टीका तथैवेनृहरेः प्रवीणा ॥ ५ ॥

नरहरि अपनी टीका के अंत में अपना परिचय इस तरह देता है—

यं प्रासूत त्रिलिंगक्षितिपतिसततराधिनां हि स्वयंभूः ।
पातिव्रत्यैकसीमा सुकवि नरहरिं नालमा वाच साध्वी ।
यं विद्यारण्य योगी कलयति कृपया तत्कृतौ दीपिकायां
द्वाविंशश्चाह सर्गः सुकृत सुयशोधामणीराजतो भूत् ॥

दल लदा हुआ था। वह यह देख दंग रह गया और धोबी से कहने लगा कि जिस युवती की यह साड़ी है, उसके तनिक दर्शन तो करा दे। उस मंत्री का मन उस पद्मिनी का निर्णय करने में अटक रहा था। धोबी ने सायंकाल को उसे साथ ले जाकर साड़ी लौटा दी और उस स्वामिनी सूहवदेवी के, जो शालापति की युवती और सुंदरी विधवा पत्नी थी, दर्शन करा दिए। वह उसे कुमारपाल राजा के द्वारा उसके घर से हटवाकर अपने साथ ले सोमनाथ की यात्रा करता हुआ काशी गया और उस (पद्मिनी) को जयन्तचंद्र की भोगिनी (उप-पत्नी) बना दिया। उसका नाम "सूहवदेवी" प्रसिद्ध हो गया। वह बड़ी घमंडी एवं विदुषी भी थी। अतः वह "कलाभारती" के नाम से लोक में विख्यात हुई। श्रीहर्ष भी "नर भारती" कहलाता था; परंतु इसकी उस उपाधि को वह मत्सरिणी नहीं सह सकती थी। एक बार उसने सत्कार कर श्रीहर्ष से पूछा कि आप कौन हैं। उसने कहा—मैं कला-सर्वज्ञ हूँ। रानी ने कहा—अच्छा, यदि आप कला-सर्वज्ञ हैं तो मुझे जूते तो पहनाइए। ऐसा कहने में रानी का यह आन्तरिक भाव था कि यदि इसने यह विचार कर कि मैं ब्राह्मण हूँ, भला ऐसा ओछा काम क्योंकर करूँ, यह कह दिया कि मैं जूते पहनाना तो नहीं जानता, तो इसकी कला-सर्वज्ञता में बट्टा लग जायगा। निदान बेचारे श्रीहर्ष को जूते पहनाने का कार्य स्वीकार ही करना पड़ा। यों उसकी कुचेष्टा से खिन्न हो उसने गंगा के किनारे संन्यास ले लिया।

उस साम्राज्य की स्वामिनी सूहवदेवी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह क्रमशः युवा हुआ। वह कुमार धीर था, परंतु कुटिल था। उस राजा के विद्याधर नामक एक मंत्री था जिसके पास चिंतामणि विनायक के प्रसाद से सब धातुओं को सुवर्ण बना देनेवाला प्रख्यात पारस पत्थर था, जिसके द्वारा वह ८८०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था और यों "लघु युधिष्ठिर" कहलाता था। वह कुशलबुद्धि था।

राजा ने उससे पूछा कि मैं कौन से कुमार को अपना राज्य दूँ? इसके उत्तर में मंत्री ने कहा कि शुद्ध कुलीन (कुमार) मेघचन्द्र को दो, न कि इस घर में डाली हुई (सूहवदेवी) के पुत्र को। इस परामर्श से क्या हो सकता था। राजा पर तो उस कामिनी ने अधिकार कर रक्खा था; इसलिये वह उसके ही पुत्र को राज्य देना चाहता था। यों राजा और मंत्री में विरोध उत्पन्न हो गया। तो भी मंत्री ने जैसे तैसे सत्य बात को राजा के गले उतार कुमार मेघचन्द्र को युवराज पद पर सुशोभित करना अंगीकार करवाया। इस पर सूहवदेवी बहुत नाराज हो गई; यहाँ तक कि अपने धन और बल से अपने चुने हुए आदमियों को भेजकर तक्ष-शिलाधिपति सुरत्राण (सुलतान) को काशी का नाश करने के लिये बुलवाया और वह एक एक मंजिल पर सवा सवा लाख अशर्फी लेता हुआ आने लगा। विद्याधर को गुप्त दूतों द्वारा इस बात का पता लग गया और उसने राजा के भी कानों में यह बात डाली। परंतु वह तो उसके जादू से उल्लू बना हुआ था। बोला कि यह तो मेरी वल्लभेश्वरी है; भला कहीं ऐसा पति-द्रोह करेगी? मंत्री ने यहाँ तक कहा कि राजन्! अब अमुक मंजिल पर शकेंद्र (सुलतान) है। परंतु उसके ध्यान में तनिक भी न आया और उसने उलटे मंत्री को वहाँ से निकाल दिया। इस पर वह मन में विचारने लगा कि राजा तो निपट मूढ हो चुका है। रानी (सूहवदेवी) का खूब जोर जमा हुआ है। वह अविवेकिनी है। स्थिति अपूर्व है। मैंने इसका नमक खाया है; अतएव अब मेरा मरण इस स्वामी के मरण से पहले ही हो जाय तो ठीक है। वह दिन निकलते ही अपने घर से रवाना हुआ। मार्ग में जाते हुए उसने तिलों का चूरा देखा और उसे खाने लगा। आगे बढ़ा तो खिले चने देखे; उन्हें भी खाने की इच्छा करने लगा। इन दो कुचेष्टाओं से अपना अवश्यम्भावी दुर्भाग्य निर्णय कर राजा के पास गया और बोला कि देव! यदि आपकी

आज्ञा हो तो मैं श्री गंगाजी के जल में मग्न हो चोला बदलूँ। राजा ने कहा—वाह क्या कहना है! तुम मर जाओ तो हम सुख से रहें, कर्णज्वर दूर हो। ये कठोर वचन सुन मंत्री को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने सोचा कि हितकारी वचन न सुनाना, अनीति में नीति मानना, प्यारों से भी द्वेष करने लगना, अपने गुरु-जनों का भी तिरस्कार करना, ये निःसन्देह मृत्यु के पूर्वरूप हैं। अब राजा की मृत्यु आ चुकी है। राजा से बिदा हो घर जा अपना सर्वस्व ब्राह्मणादि को दे संसार से विरक्त हो गंगाजल में प्रवेश कर उसने अपने कुल-पुरोहित से कहा कि आप दान लीजिए। ब्राह्मण ने भी हाथ पसारा और उसने उसे पारस दे दिया। वह बोला—धिक्कार है तेरे दान को। पत्थर देता है! निदान उसने उसे क्रोध के मारे जल में फेंक दिया। वह पारस पत्थर श्री गंगाजी के जल में डूब गया। मंत्री जल में डूबकर मर गया। राजा उस नर-रत्न की मृत्यु से अनाथ हो गया। परंतु अब क्या हो सकता था। सुलतान आ पहुँचा। नगर में एक बरतन से दूसरा बरतन टूटने लगा। राजा युद्ध करने के लिये आगे बढ़ा। उसके ८४०० निशान थे; परंतु उसे अपने दल में से एक का भी शब्द नहीं सुनाई पड़ता था। किनारे पर जाकर पूछा तो उसे उत्तर मिला कि म्लेच्छों के धनुषों की ध्वनि में अन्य ध्वनियाँ मग्न हो गई हैं। राजा की हिम्मत टूट गई। पीछे से वह मारा गया, भाग गया या गंगा में डूब मरा, यह ज्ञात नहीं हुआ और यवनों ने नगर नष्ट कर दिया।

(२१) हिंदी के कारक-चिह्न

[लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा, एम. ए., काशी ।]

(१)

(१)—कारक-चिह्नों से हमारा अभिप्राय उन शब्दों, शब्दांशों, वर्णसमूहों या प्रत्ययों से है जिनको किसी संज्ञा या सर्वनाम के साथ जोड़ देने से हम वाक्य में उस संज्ञा या सर्वनाम का संबंध स्थापित करते हैं*। कुछ लोग इन चिह्नों को 'विभक्ति' के नाम से भी संबोधित करते हैं। वास्तव में इन्हें 'विभक्ति' कहना ठीक नहीं है। हमारे आधुनिक कारक-चिह्न संस्कृत की विभक्तियों के समान नहीं हैं। विभक्तियों और कारक-चिह्नों में भेद है। संस्कृत की विभक्तियाँ एक प्रकार से मूल शब्दों में जुड़ी रहती हैं, पर कारक-चिह्न मूल शब्दों से पृथक् रहते हैं। विभक्तियों में लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तन होते हैं, पर कारक-चिह्नों में वचन के अनुसार तो कोई परिवर्तन होता ही नहीं, लिंग के अनुसार भी संबंध कारक को छोड़कर अन्य कारकों में नहीं होता। अनेक प्रमाणों से हमें यही मानना पड़ेगा कि हमारे कारक-चिह्न स्वतन्त्र अव्यय हैं और उनमें तथा विभक्तियों में बड़ा अन्तर है। एक बार इस बात पर बड़ा वाद-विवाद चला था कि विभक्तियों की भाँति कारक-चिह्नों को मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखना चाहिए अथवा उन्हें स्वतन्त्र शब्दों की भाँति अलग लिखना उचित है। यद्यपि फल-स्वरूप इसका कुछ भी निर्णय नहीं हुआ, पर क्रमशः लोग कारक-चिह्नों को पृथक् ही लिखने लगे।

---

* कारक का वास्तविक अर्थ वाक्य में क्रिया और संज्ञा के संबंध से है। इसी लिये संस्कृत में संबंध कारक को कारक नहीं माना है; क्योंकि उसका संबंध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है।

इधर लोगों की प्रवृत्ति से मैं यही जान पड़ता है कि ये अलग ही लिखे जायँगे। हाँ, अब भी संस्कृत के पक्षपाती कुछ ऐसे सज्जन हैं जो पुरानी लीक पीटते जाते हैं; पर उनकी संख्या दिनों दिन कम होती जा रही है।

(२)—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यदि हम देखें तो हमारी भाषा पहले से बहुत कुछ उन्नति कर चुकी है। एक समय था जब हमारी भाषा (हिन्दी) संस्कृत के समान 'संयोगावस्था' में थी। पर क्रमशः वह 'वियोगावस्था' को प्राप्त होकर आधुनिक भाषा के रूप में प्रकट हुई। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि हिंदी और संस्कृत में वंश का संबंध है, तो भी उनकी अवस्थाओं में भेद है। यहाँ पर हमें विशेष रूप से उनकी अवस्थाओं का निर्णय करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि हमारे कारक-चिह्नों का आविर्भाव कैसे हुआ—क्रमशः विकसित या परिवर्तित होकर वे किस रूप से किस रूप को प्राप्त हुए।

(३)—इस समय हमारे साहित्य की भाषा खड़ी बोली है। गद्य में तो इसका प्रयोग सर्वमान्य है, पर अब पद्य में भी इसका प्रयोग अधिकता से होने लग गया है। एक समय था जब हम गद्य के लिये भी व्रजभाषा का प्रयोग करते थे; पद्य में तो अभी तक बहुत से लोग इसका प्रयोग करते हैं। साहित्य की भाषा चाहे इस समय की हो चाहे किसी समय की हो, बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न होती है। इसी समय में देखिए, यद्यपि हमारे साहित्य की भाषा खड़ी बोली हो रही है, पर हम में से अधिकांश लोगों के बोलचाल की भाषा वह नहीं है। हाँ अभ्यास से हम उसे पढ़, लिख अथवा समझ लेते हैं। इस समय हिंदी भाषा से साधारणतः हम खड़ी बोली का ही तात्पर्य्य समझते हैं; पर हमारे मन में यह विचार साहित्य की एक भाषा होने के कारण उत्पन्न

होता है। क्या हम ब्रजभाषा और अवधी को हिंदी न कहेंगे? हाँ कुछ लोग इन्हें प्रान्तीय बोलियों के नाम से संबोधित करने लग गए हैं। यों देखा जाय तो खड़ी बोली भी एक प्रांतीय बोली है; पर साहित्य में उसकी प्रधानता होने के कारण वह सब की भाषा हो रही है। हिंदी या हिंदुस्थानी भाषा के अन्तर्गत बहुत सी उपभाषाएँ या प्रान्तीय बोलियाँ आती हैं।

(४)—डाक्टर केलाग (Kellogg) ने हिन्दी के अन्तर्गत १५ प्रान्तीय बोलियों को लिया है। हिन्दी की परिभाषा देते हुए वे अपने व्याकरण में लिखते हैं—"Hindi is spoken and written in a great variety of dialects, which it is difficult to enumerate with precision. I have used the word 'Hindi' in this grammer in a more customary sense, as including the speech of the whole region from the lower ranges of the Himalaya mountains, in the north, to the Narmada river and the Vindhya mountains, in the south; and from the Panjab, Sindh and Gujrat, in the west, to Bengal and Chutia Nagpur in the east and south-east" (Hindi Grammer—Kellogg, Page 65.)

इसका मतलब यह है कि हिंदी के अन्तर्गत आपस में साम्य रखनेवाली वे सब बोलियाँ आवेंगी जो उत्तरापथ में बोली जाती हैं। डाक्टर केलाग के अनुसार इस विस्तृत प्रदेश का विस्तार इस प्रकार है—उत्तर में हिमालय की पर्वतमाला, पूर्व में बंगाल और छोटा नागपुर, दक्षिण में नर्मदा नदी और विन्ध्य पर्वत, पश्चिम में पंजाब, सिंध और गुजरात। इस प्रदेश में निम्नलिखित मुख्य मुख्य उपभाषाएं प्रचलित हैं—

(१) राजपूताने की भाषाएँ—मेवाड़ी, मेरवारी, जयपुरी, हरौती।

(२) पहाड़ी भाषाएँ—गढ़वाली, कमाऊनी, नैपाली।

(३) दोआब की भाषाएँ—ब्रजभाषा, कन्नौजी, खड़ी बोली।

(४) पूर्वी भाषाएँ—अवधी, रींवाई, भोजपुरी, मगही, मैथिली।

(५)—यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी तथा अनेक अन्य भारतीय भाषाएँ एक ही प्राचीन आर्य्य भाषा से निकली हैं। डाक्टर ग्रियर्सन महाशय ने भारतीय आर्य्य-भाषाओं में निम्नलिखित भाषाओं को संमिलित किया है—

(१) काशमीरी, कोहिस्तानी, लहँदे की बोली या पश्चिमी पंजाबी।

(२) मराठी, उड़िया, बिहारी, बँगला, आसामी।

(३) पूर्वी हिंदी या अवधी।

(४) पश्चिमीय हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, पहाड़ी भाषाएँ (नैपाली)

प्राचीन समय में आर्य्य लोग भारतवर्ष में जो भाषा बोलते थे, उसे वैदिक प्राकृत कहते हैं। इस भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की कुछ प्राचीन ऋचाओं में मिलता है। इसी भाषा से क्रमशः विकसित होकर संस्कृत बनी और वही क्रमशः साहित्य और व्याकरण से निबद्ध होकर अजर और अमर हो गई। इस का नमूना संस्कृत साहित्य में मिलता है। वैदिक प्राकृत का क्रमशः विकास होता गया; पर उस से निकली हुई भाषा (संस्कृत) साहित्य में जकड़ गई और उसका विकास न हो सका। वैदिक प्राकृत क्रमशः विकसित होकर मध्य-कालीन प्राकृत के रूप में प्रकट हुई। इसका नमूना हमें अशोक के शिलालेखों, कुछ जैन ग्रंथों तथा नाटकों में मिलता है। आगे चलकर उस प्राकृत आर्य्य भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया। तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय आर्य्य भाषाओं का उदय हुआ। संक्षेप में यही आधुनिक आर्य्य भाषाओं की उत्पत्ति का इतिहास है।

(६)—हम ऊपर कह आए हैं कि संस्कृत और हिन्दी की अवस्थाओं में अन्तर है। यह कथन प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं के संबंध में चरितार्थ हो सकता है। प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाएँ इस समय 'वियोगावस्था' में हैं। हाँ किसी किसी में 'संयोगावस्था' के भी कुछ लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तो हमें कारक-चिह्नों के विषय में विशेष रूप से विचार करना है और कारक-चिह्न प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं में वियोगावस्था में हैं।

(७)—वैदिक काल में हमारी भाषा के कारक-चिह्न मूल शब्दों से भिन्न न थे। कालान्तर में 'विभक्तियों' का लोप हो गया और उनके स्थान में नए शब्द उनका काम देने लगे जो आगे चलकर स्वयं कारक-चिह्न बन बैठे। क्रमशः हमें इसी विषय का अनुसंधान करना है। आधुनिक भारतीय आर्य्य भाषाओं के कारक-चिह्न नीचे दिए जाते हैं—

(क) भारतीय आर्य्य भाषाओं के कारक चिह्न

भाषा	प्रथमा	द्वितीया	तृतीया (करण) Agent	तृतीया (करण) Instrument	चतुर्थी (सम्प्रदान)	पंचमी (अपादान)	षष्ठी (संबंध)	सप्तमी (अधिकरण)
१. खड़ी बोली	×	को	ने	से	को, के-लिये	से	का (पुं) की (स्त्रि)	में, पर
२. ब्रजभाषा	×	कौं, कँ	ने, नैं	सौं, सूँ	कौं, कैं	सौं, सूँ	कौ (पुं) की (स्त्रि)	मैं, पै, लौं
३. अवधी	×	क	×	से, सन	क	से, सन	के कर	में, पर
४. भोजपुरी	×	के, को	×	सों, से	को, के, लाग	सों, से	के, कर	में, पर
५. कन्नौजी	×	को कों	ने	से, सेती	को, कों	से, सेती	को, के, की (स्त्रि)	मे, पर, लों
६. मगही	×	के	×	सें संतो	के, लागी	सें, संतो	केर, केरा, केरी (स्त्रि)	मां, पै,
७. मैथिली	×	के, कौं, कैं	×	सें, सों	के कौं, कैं	सें, सों	कर केर, केरी,	में, मों
८. बँगला	×	के	×	कहते	के	कहते	एर, र	ते
९. उड़िया	×	कु, कि	×	स, कुरु	कु, कि	सूं, कह, ठा...	कर, र	रे, करे, ठारे
१०. पंजाबी	×	नूँ	नै	दा, थी	नूँ	रु, थो	दा, दी (स्त्रि)	दर, पंह, मंहनि
११. राजस्थानी	×	नै, कै	एँ ए(ब-)	सूँ, सैं	नै, कनै	दा, सै	को, का	में, ऊपर
१२. मेवाड़ी	×	नै, कै	नै	तैं	नै	तैं	को, का, की	मैं, ऊपरै
१३. मारवाड़ी	×	न, नों	एँ	सू, ऊं	नै, नां,	सूं, ऊँ	रो, को, तणो, तणी, हंदो, हंदी (स्त्रि)	मैं, पैं
१४. गुजराती	×	ओ, ऊ, ने	ए	ए	ने	थो, थी, थाको	तणो, तणी, केरो नां, नी, नुं	एँ
१५. मराठी	×	ला	नें	सीं हीं	ला	सीं, हीं	चा, ची, चें	त
१६. सिन्धी	×	खे	×	खों, खां	खे	खों, खां	जो, जी	में
१७. नैपाली	×	ले	ले	ले	ले	ते	को, की	मां, पर

(७)—ऊपर की सारिणी से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) प्रायः सभी भाषाओं में कारक-चिह्न वियोगावस्था में हैं।

(२) कर्म और सम्प्रदान कारकों के चिह्न प्रायः एक हैं।

(३) करण और अपादान कारकों के चिह्न प्रायः समान हैं।

(४) केवल संबंध-कारक में लिंग के अनुसार चिह्नों का प्रयोग होता है। इन पर अपना विचार प्रकट करने के पूर्व हमें संस्कृत-प्राकृत आदि की विभक्तियों के विषय में भी देख लेना चाहिए। संस्कृत तथा भिन्न भिन्न प्राकृतों और अपभ्रंश की विभक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

(ख)

	संस्कृत		पाली		प्राकृत-महाराष्ट्री		शौरसेनी		मागधी		पैशाची		अपभ्रंश	
	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०
प्रथमा	स्	जस्	सि	यो	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	*	*
द्वितीया	अम्	शस्	अं	यो	अं	ओ	अं	ओ	अं	ओ	अं	ओ	*	*
तृतीया	टा	भिस्	ना	हि	ना	हि, हिं	ना	हिं	ना	हिं	ना	हि	अं	हिं, ए
चतुर्थी	ङे	भ्यस्	स	नं	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*
पंचमी	ङसि	भ्यस्	स्मा	हि	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हे, हु	हुँ
षष्ठी	ङस्	आम्	स	नं	स्स	णं	स्स	णं	स्स	णं	स्स	णं	सु, हो	हं
सप्तमी	ङि	सुप्	स्मिं	सु	मि	सु	मि, ए	सु	मि	सु	मि	सु	*	हिं

इस सारिणी से हमें पता लगता है कि—

(१) अपभ्रंश काल में आकर प्रथमा और द्वितीया की विभक्तियों का एक दम लोप हो गया।

(२) चतुर्थी अथवा संप्रदान कारक की विभक्ति का संस्कृत के बाद ही लोप हो गया और पाली में उसके स्थान में संबंध कारक की विभक्ति (स, नं,) का प्रयोग होने लगा। अथवा यों कह सकते हैं कि संबंध कारक से सम्प्रदान कारक का भी काम लिया जाने लगा।

(३) पंचमी या अपादान कारक के लिये प्राकृतों में एक नवीन शब्द (सुन्तो हुन्तो) का प्रयोग होने लगा।

(४) क और ख सारिणियों को आपस में मिलाकर देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आधुनिक कारक-चिह्नों और पहले की विभक्तियों से कोई स्पष्ट संबंध नहीं है। अतः हमारे कारक-चिह्नों के विकास का कोई दूसरा उद्गम है।

(८)—यहाँ हमें विशेष कर हिन्दी के कारक चिह्नों की उत्पत्ति का पता लगाना है। अतः पहले हम हिन्दी की उपभाषाओं या बोलियों के कारक-चिह्न दे देना उचित समझते हैं। इन उपभाषाओं के कारक चिह्न ये हैं। *

---

* केलाग (Keliogg) महाशय ने हिन्दी के अन्तर्गत जिन उपभाषाओं को सम्मिलित किया है, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। मेरे विचार में उनमें से कुछ ऐसी भाषाओं को हिंदी भाषा में नहीं गिना जा सकता, यथा नैपाली आदि पहाड़ी भाषाएँ और राजपूताने की भाषाएँ। मैथिली भी हिंदी से भिन्न ही है। डाक्टर ग्रियर्सन ने हिंदी का क्षेत्र बहुत ही संकुचित कर दिया है। उन्होंने हिन्दी के दो भेद किए हैं—पूर्वी और पश्चिमी। उन्होंने (१) पूर्वी में—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी (२) पश्चिमीय हिंदी में, हिंदुस्तानी, ब्रज, कन्नौजी, बुँदेली और बांगरू को गिना है। उन्होंने मगही और भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत रखा है। मेरी समझ में ऐसा न होना चाहिए। ये उपभाषाएँ पूर्वी हिंदी के अन्तर्गत मानी चाहिएँ। मेरी समझ में हिंदी के अंतर्गत जिन उपभाषाओं को रखना उचित है, उन्हीं के कारक-चिह्नों को मैंने (ग) सारिणी में दिया है।

(ग) हिन्दी की उपभाषाएँ और उनके कारक-चिह्न

	प्रथमा (कर्ता)	द्वितीया (कर्म)	तृतीया करण Agent	तृतीया उपकरण Instrument	चतुर्थी (संप्रदान)	पंचमी (अपादान)	षष्ठी (संबंध)	सप्तमी (अधिकरण)
१. पूर्वी हिन्दी								
१. मगही	×	के	×	से, संती	के, लागी	से, संती	केर, केरा, केरी	में, पर, लों
२. भोजपुरी	×	कं, को	×	सों, से	को, के, लाग	सों, से	क, कर	में, पर,
३. अवधी	×	के,क, कहँ, कौं	×	से, सन	के, क, कहँ, कौं,	से, सन, संती हुंत	के, कर, कै, क	में, पर, महँ, माँ
४. रीवाई	×	कहँ	×		कहँ	ते, तन	कर	म, पर
५. छत्तीसगढ़ी	×	का, ला	×	ले, से	का, ला	ले, से	के	माँ, में, ऊपर
पश्चिमी हिंदी								
१ खड़ी बोली	×	को	ने	से	को, के, लिए	से	का, की, के	में, पर,
२. हिंदुस्तानी *	×	को, कूँ	ने, नें	से	को, कूँ, नूँ	सेती, से	का, की	पे, प, मै
३. व्रजभाषा	×	कौं, कूँ	नैं	सों, सूँ, नें	कौं, कूँ	सौं, सूँ, तें	कौ, की, के	में, मों, पै, लो
४. कन्नौजी	×	को	ने	से	को, कों	से, सेतो, सन, ते	को, के, की	में, मों, पर, लों
५. बुँदेली	×	खों, कों, कौं	ने, नै	सें, खें, सन तें	खों, काँ, कौं,लाने काजे	सें, खें, मन, त	केरो, केरी, के, की	माँ, मैं, माँहीं

* ग्रियर्सन साहब ने खड़ी बोली का नाम हिन्दोस्तानी रखा है। उसके अपने दो भेद किए हैं—साहित्य की और बोलचाल की (जो मेरठ, रुहेलखण्ड में बोली जाती है) मैंने एक को खड़ी बोली, दूसरी को हिन्दुस्तानी कहा है : सुभीते के लिये यह उपयुक्त होगा।

ऊपर दी हुई सारिणी से पता चलता है कि संस्कृत की प्रथमा विभक्ति जो संस्कृत में कर्ता का रूप प्रकट करती थी, हिन्दी में आकर लुप्त हो गई। इसका लोप होना अपभ्रंश काल ही में पाया जाता था। इस समय भारतीय भाषाओं में कर्ता का प्रयोग दो प्रकार का होता है—कहीं तो कर्ता में कारक का चिह्न लगाते हैं, कहीं नहीं लगाते। हिंदी में दोनों प्रयोग मिलते हैं। पूर्वी हिंदी में चिह्न-रहित कर्ता का प्रयोग होता है और पश्चिमी में विकल्प से दोनों (चिह्न रहित और सचिह्न) का होता है। खड़ी बोली में, जो पश्चिमी हिन्दी की प्रधान उपभाषा है, कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग उन सकर्मक क्रियाओं के सब कालों में होता है जो लिट् कृदन्त (Perfect-participle) से बनी होती हैं। पर पूर्वी हिंदी में 'ने' का प्रयोग ही नहीं होता, चाहे क्रिया कैसी ही क्यों न हो। इसका कारण यह है कि पश्चिमी हिंदी में क्रिया का संबंध वाक्य में कर्म से होता है, कर्ता से नहीं; पर पूर्वी हिंदी में क्रिया का संबंध वाक्य में कर्ता से होता है। व्याकरण में एक को कर्मवाच्य या कर्मणि प्रयोग और दूसरे को कर्तृवाच्य या कर्तरि प्रयोग कहते हैं। अँग्रेजी में एक को Passive voice दूसरे को Active voice कहते हैं। कर्मणि प्रयोग में कर्ता स्वयं काम नहीं करता, वरन् उसके द्वारा काम होता है। जैसे उसने रोटी खाई; अर्थात् उसके द्वारा रोटी खाई गई। पश्चिमी हिंदी की अधिकतर क्रियाएँ कृदन्ती हैं; अतः उनका प्रयोग संस्कृत के ढंग पर कर्मणि होता है। यथा 'किया' क्रिया 'कृतः' से निकली है। संस्कृत में 'रामेण कार्यं कृतं' कहेंगे जो हिंदी में 'राम ने काम किया' होगा। यहाँ पर हम देखते हैं कि 'राम' तृतीया में है और क्रिया का संबंध कर्म से है। यही बात हिंदी (पश्चिमी) में भी पाई जाती है। 'राम ने' या 'राम द्वारा' या by Rama जो करण कारक का रूप है। यदि 'काम' की जगह 'पुस्तक' शब्द होता तो हमें 'राम ने पुस्तक पढ़ी' कहना पड़ता। अतः यह स्पष्ट है कि क्रिया का संबंध (लिंग और

वचन के आधार पर) कर्म से होता है। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी हिंदी में कर्ता वास्तव में कर्ता नहीं है, वरन् करण कारक है। करण से हमारा आशय इस समय Instrument से है। इसलिये अंग्रेजी में उसे Agent कहते हैं। अतः 'ने' कर्ता का चिह्न न होकर, Agent का चिह्न है, जिसे संस्कृत में 'तृतीया' कहेंगे। पूर्वी हिंदी क्रियाओं का रूप तिङन्त है। उनका संबंध कर्ता से होता है, कर्म से नहीं। जैसे 'उसने देखा' के लिये 'ऊ देखिसि'; 'मैंने देखा' के लिये 'मैं देख्यों'। अधिक उदाहरण देना आवश्यक नहीं। विषयांतर हो जाता है। पर इतना तो अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि 'ने' का प्रयोग पूर्वी में क्यों नहीं होता और 'ने' को कर्ता का चिह्न न कह कर करण या Agent* का चिह्न कहना उचित है।

पूर्वी और पश्चिमी हिंदी में मुख्य क्या अंतर है, यह हम देख ही चुके। अब संक्षेप में इनकी उत्पत्ति पर भी विचार कर लेना चाहिए। जहाँ इस समय पूर्वी हिंदी का प्रचार है, वहाँ प्राचीन समय में मागधी और अर्धमागधी प्राकृतों का प्रचार था और ये प्रदेश मगध और अर्ध-मगध के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं प्राकृतों से पूर्वी हिंदी की उत्पत्ति हुई है। मगही और अवधी नाम ही इसके साक्षी हैं। तारतम्यात्मक रूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इन भाषाओं में घनिष्ठ संबंध है। पूर्वी हिंदी की उपभाषाओं में से केवल अवधी ही में प्राचीन साहित्य है। पश्चिमी हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत से है। मथुरा के आसपास का प्रदेश शौरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध था। प्राकृत काल में यहाँ की भाषा को शौरसेनी प्राकृत कहते थे। इसी प्राकृत से पश्चिमी हिंदी की उत्पत्ति हुई है। यहाँ एक बात ध्यान

---

*सुबोते के लिए हम Agent को 'करण' और Instrument को 'उपकरण' कह सकते हैं।

देने योग्य है। पूर्वी हिंदी और उसकी पूर्ववर्त्तिनी प्राकृतों में जितना घनिष्ठ संबंध है, उतना पश्चिमी हिंदी और शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि प्राकृत काल के पश्चात् शौरसेन प्रदेश की भाषाओं पर अनेक बाहरी प्रभाव पड़े। इस कारण वहाँ की भाषा ने जल्दी विकास प्राप्त किया। और यह तो मानना ही पड़ेगा कि बाहरी जातियों के जितने आक्रमण हुए, पश्चिम ही से हुए; और उनकी भाषा तथा उनकी सभ्यता का प्रभाव जितना पश्चिम पर पड़ा, उतना पूरब पर नहीं। इतिहास इसका साक्षी है।

पश्चिमी हिंदी की उपभाषाओं में केवल व्रज और खड़ी बोली को साहित्य में स्थान मिला है। व्रज का साहित्य तो प्राचीन है, पर खड़ी-बोली का आधुनिक है।

कारक-चिह्नों का क्रमिक विकास देखने के लिये हमें केवल साहित्य का ही सहारा लेना पड़ेगा। आधुनिक रूपों को तो हम प्रचलित भाषा में देख सकते हैं, पर इसके पूर्ववर्त्ती रूपों को हम केवल साहित्य में ही पा सकते हैं। हिंदी का साहित्य तीन भाषाओं में पाया जाता है—व्रज, अवधी और खड़ी बोली। व्रज और खड़ी बोली को हम पश्चिमी हिंदी का प्रतिनिधि मान सकते हैं और अवधी को पूर्वी हिंदी का। इसका कारण यह है कि व्रज और खड़ी बोली के साहित्य में हम प्रायः पश्चिमी हिंदी की उपभाषाओं के प्रयोग पाते हैं। अवधी में हम पूर्वी हिंदी के प्रयोग पा सकते हैं। यद्यपि साहित्य की भाषा में परस्पर विनिमय होता रहा है, पर इससे प्रादेशिक भाषा का रूप छिप नहीं सकता।

कर्ता कारक

हम ऊपर देख चुके हैं कि कर्ता कारक की विभक्ति संस्कृत काल में सु और जस् थी; पर क्रमशः अपभ्रंश काल में आकर उसका पूर्ण

रूप से लोप हो गया। हिंदी में भी इसी कारण कर्ता कारक का कोई चिह्न नहीं है। कुछ लोग 'ने' को कर्त्ता कारक का चिह्न मानते हैं; पर ऐसा समझना ठीक नहीं। वास्तव में 'ने' करण कारक का चिह्न है। संस्कृत में कर्मणि प्रयोग में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है और कर्म का संबंध क्रिया से होता है। उसी ढंग पर हिंदी में भी 'ने' लगने पर क्रिया का संबंध कर्म से होता है। अतः हिंदी का 'ने' कारक चिह्न कर्ता का चिह्न नहीं है, वरन् 'करण' कारक का है। पूर्वी हिंदी में कर्मणि प्रयोग नहीं पाया जाता; इसलिये उसमें 'ने' का प्रयोग ही नहीं है। कर्ता का प्रयोग बिना किसी कारक चिह्न के होता है। पश्चिमी हिंदी में कर्मणि प्रयोग होने के कारण कर्ता करण कारक में रखा जाता है; अतः उसके साथ 'ने' कारक चिह्न का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में 'ने' संस्कृत की तृतीया विभक्ति के चिह्न 'एन' का रूपान्तर है।

कर्म और सम्प्रदान कारक

'को' 'के-लिये'

हम पहले ही देख चुके हैं कि कर्म और सम्प्रदान कारकों के चिह्न प्राय: सभी भाषाओं में एक हैं। इसका कारण यह है कि जब चतुर्थी या संप्रदान कारक की विभक्ति अपभ्रंश काल में लुप्त हो गई, तब उसके स्थान पर अन्य कारकों की विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। तब वही कर्म के लिये भी आने लगीं। यह प्रवृत्ति हम पाली भाषा में देखते हैं। पाली भाषा में अथवा यों कहें कि संस्कृत के पश्चात् ही, चतुर्थी की विभक्ति का लोप हो गया और उसके स्थान पर षष्ठी या संबंध कारक की विभक्ति का प्रयोग होने लगा (देखो सारणी ख)। सम्प्रदान कारक के लिये खड़ी बोली में दो चिह्न हैं—को और के-लिये। 'को' का प्रयोग कर्मकारक के लिये भी होता है; पर 'के लिये' का प्रयोग केवल सम्प्रदान ही के लिये होता है। इस प्रकार हम हिंदी के कर्म और संप्रदान कारक

के चिह्नों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे जिनका प्रयोग कर्म और संप्रदान दोनों में होता है; दूसरे वे जिनका प्रयोग केवल संप्रदान कारक के लिये किया जाता है। संक्षेप में वे इस प्रकार होंगे।

कर्म और संप्रदान—कें, को, क, कहँ, काँ, का, ला, कों, कौं, कूँ, खाँ, इत्यादि।

संप्रदान—के लिये, लागी, लाग, लाने, काजे, बदे, करतीं, खातिर इत्यादि।

पहले हम उन चिह्नों की उत्पत्ति पर विचार करते हैं जो कर्म और संप्रदान कारकों में समान हैं। इनकी उत्पत्ति पर विद्वानों के कई मत हैं।

(१) बीम्स महाशय इनकी उत्पत्ति 'कक्ष' से मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृत शब्द 'कक्ष' जिसका अर्थ 'पास' भी होता है, कुछ काल में बिगड़कर 'काह' से 'कँह' के रूप में आया। पीछे धीरे धीरे उसी से कौ, को, कोँ आदि की उत्पत्ति हुई। बँगला में 'काछे' शब्द जो 'कक्ष' से उत्पन्न जान पड़ता है 'पास' या 'नजदीक' का अर्थ देता है। इसी शब्द को देखकर बीम्स साहब को 'कक्ष' से को आदि के निकालने की सूझी। इस उत्पत्ति को मानने में सब से भारी कठिनाई यह है कि 'कक्ष' शब्द का हिंदी में 'काख' रूपान्तर होता है, 'काह' नहीं। बीम्स ने 'कक्ष' से 'काह' और क्रमशः कहँ हो जाने के लिये उदाहरण-स्वरूप 'कहाँ' और 'जहाँ' शब्द दिया है। उनका अनुमान है कि ये क्रमशः 'किमस्थान' और 'यत्स्थान' से निकले हैं जो सर्वथा असंभव है। दूसरी बात जो बीम्स साहब के सिद्धान्त के मानने में बाधक है, वह यह है कि 'कक्ष' शब्द का कर्म या संप्रदान कारक के द्योतक रूप में कहीं प्रयोग नहीं मिलता। प्राचीन हिंदी या अन्य भाषाओं में भी इसका पता नहीं मिलता।

(२) बीम्स साहब के अनुसार 'को' आदि कारक-चिह्नों की उत्पत्ति 'कृते' से हुई है। 'कृत' का व्यवहार संप्रदान के लिये कहीं नहीं मिलता; और 'कृत' से 'कहँ' और फिर 'को' होना मानने योग्य नहीं है।

इनकी उत्पत्ति के लिये हमें प्राचीन साहित्य में इनका प्रयोग ढूँढना चाहिए। पूर्वी हिंदी में कर्म और संप्रदान कारकों के लिये कहँ, कहुँ, काहु आदि का प्रयोग मिलता है; यथा रामायण में—

कहँ—नृप युवराज राम कहँ देहू।

कहुँ—कपिन सहित विप्रन कहुँ दान बिविध बिधि दीन्हा।

काहू—आसन उचित दिये सब काहू।

पूर्वी और पश्चिमी में भी 'कहँ' का प्रयोग कर्म और संप्रदान कारकों के लिये पाया जाता है। अपभ्रंश काल में इसका रूप 'केहिं' था। हेमचंद्र ने इसका उल्लेख किया है; यथा "हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ"। अतः आधुनिक को, कौं, कों आदि कारक-चिह्नों की उत्पत्ति 'केहिं' से हुई है। अब देखना यह है कि 'केहिं' की उत्पत्ति कहाँ से हुई। 'केहिं' शब्द के दो भाग हैं 'के + हिं'। 'हिं' अपभ्रंश की सप्तमी की विभक्ति है। सप्तमी का प्रयोग कर्म कारक और संप्रदान कारक के लिये होता है। संज्ञाओं में 'हिं' विभक्ति लगाकर पूर्वी हिंदी में भी कर्म और संप्रदान कारक बना लिये जाते हैं; यथा रामायण में—

रुद्रहिं (रुद्र को) देखि मदन भय माना। (कर्म कारक)

रामहिं (राम को) सौंपिय जानकी नाइ कमल पदमाथ। (संप्रदान)

अब रहा 'के'। 'के' 'केरक' का रूपान्तर है। संबंध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देखेंगे कि प्राचीन समय में प्राकृत में संबंध कारक के लिये 'केरक' का प्रयोग होता था। इसी से 'केर' और पश्चात् 'के' बना है। हम पहले देख चुके हैं कि संस्कृत के पश्चात् ही संप्रदान कारक की विभक्ति का लोप हो गया और उसके स्थान में 'पाली' में संबंध कारक की विभक्ति काम में आने लगी। संबंध कारक

को अन्य कारकों के लिये प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्राचीन है। संप्रदान कारक के लिये संबंध कारक का प्रयोग वेदों तक में मिलता है। पीछे से पाणिनि आदि संस्कृत वैयाकरणों ने भी इसे स्वीकार किया है।

प्राकृत काल में संप्रदान कारक के लिये संबंध कारक का प्रयोग होने लगा। जब संबंध कारक के लिये 'केरक' के प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ी, तब उसी 'केर' को संप्रदान कारक के लिये भी व्यवहार करने लगे। पीछे जब 'केर' में भी स्वतंत्र शब्द की भाँति विभक्ति लगने लगी, तब उसमें 'हिं' विभक्ति, जो अपभ्रंश की अधिकरण-सूचक विभक्ति थी, जोड़ दी गई और उसका रूप 'केरहिं' से 'केहिं' हुआ। 'केहिं' का प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। यथा—

ढोल्ला एह परिहास ही अइभ न कवणहिं देसि।
"हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअतुहुँ पुणु अन्नहि रेसि॥"

हेमचंद्र।*

संबंध-सूचक 'केर' से संप्रदान कारक 'को' के उत्पन्न होने का एक और प्रमाण है। अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं में भी 'संबंध कारक' और संप्रदान कारक में घनिष्ट संबंध दिखाई पड़ता है। जैसे—उड़िया भाषा में संप्रदान कारक का चिह्न 'कु' और 'कुरु' है जो 'केर' से ही निकला है। इस समय भी उस भाषा के संबंध कारक का चिह्न 'कर' 'र' है। बँगला में संबंध कारक के लिये 'एर,' 'र' का प्रयोग होता

---

* हेमचंद अपने व्याकरण में यह सूत्र देते हैं—

'तादर्थ्ये केहि, तेहि, रेसि, रेसिं, तणेणाः।

इनका प्रयोग कुमारपालचरित्र सर्ग ८ में भी यों दिया है—

सग्गहो केहि करि जीव-दय, दमु करि मोक्खहो रेसि॥
कहि कसु रेसिं तुहुं अवर, कम्मारम्भ करेसि॥७०॥
कसु तेहि परिगहु, अलिउ कासु तणेण करेसु।
जसु विणु पुणु अवसें न सिवु अवस तम बकसि लेसु॥७१॥

है । पुरानी बँगला में कर्म और संप्रदान के लिये 'रे' का प्रयोग मिलता है; यथा—

(१) वृक्ष मूले बसि राजा कहिल भीमे रे । 'काशीरामदास'

(२) भय पाये श्रीकृष्णे रे डाके गुणवती ॥

आधुनिक बँगला में 'के' संप्रदान के लिये प्रयुक्त होता है, जो 'केर' का पूर्व भाग है । यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि 'रे' में 'र' तो 'केर' का पिछला हिस्सा है, पर 'ए' सप्तमी की विभक्ति है । ऊपर हम देख ही आए हैं कि सप्तमी की विभक्ति लगाकर संप्रदान कारक बना लिया जाता था । *

गुजराती में संप्रदान कारक का चिह्न 'ने' है जो संबंध-सूचक 'तणों' से बना है । अब भी उस भाषा में संबंध कारक के लिये 'नो' 'नीं' का प्रयोग होता है । मारवाड़ी भाषा का भी यही हाल है । पंजाबी में संप्रदान कारक का चिन्ह 'नूँ' है यह भी 'तणों' से निकला है । मेवाड़ी भाषा में भी 'नै' है जो 'ने' का रूपान्तर है । अतः अब निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि 'केहिं' जिससे आधुनिक कर्म और संप्रदान कारक के चिह्न 'को' की उत्पत्ति हुई है, संबंध-सूचक 'केर' से बना है । डाक्टर भांडारकर 'केहिं' की उत्पत्ति सर्वनाम 'किम' से मानते हैं और 'केहिं' को उसके सप्तमी का रूप बताते हैं । पर सर्वनामों का प्रयोग कारकों के लिये कहीं देखने में नहीं आता ।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक संप्रदान और कर्म कारकों के चिह्नों की उत्पत्ति 'केहिं' से हुई है । संप्रदान और कर्म के लिये एक ही चिह्न का प्रयोग इसलिये होता है कि संस्कृत काल ही से संप्रदान के लिये विकल्प से कर्म कारक का प्रयोग होता आया है; और अपभ्रंश काल में 'कर्म' और 'संप्रदान' दोनों की विभक्तियों का लोप हो गया था । संबंध कारक की विभक्ति का तो पहले ही लोप हो गया

* इसी प्रकार पूर्वी हिंदी में भी 'ए' अधिकरण सूचक मिलता है; जैसे, घरे है; बने है ।

था। जब उसके लिये अन्य संबंध-सूचक शब्द का व्यवहार होने लगा, तब उसी का प्रयोग संप्रदान के लिये भी होने लगा। पीछे कर्म कारक का काम भी उसी से चलने लगा। यही कारण है कि संप्रदान और कर्म कारक के चिह्न एक हैं।

अब हम उन कारक-चिह्नों को लेते हैं जिनका प्रयोग केवल संप्रदान कारक के लिये होता है। जैसे—'के लिये, लागी, लाग, काजे' इत्यादि।

पहले हम खड़ी बोली के संप्रदान कारक चिह्न की उत्पति के विषय में अनुसन्धान करते हैं। खड़ी बोली का साहित्य जब से मिलता है, हम उसमें 'के—लिये' का प्रयोग पाते हैं। हमारा विचार है कि खड़ी बोली के संप्रदान कारक का चिह्न इन दो चिह्नों के मिलने से बना है—के और लिये। जहाँ कहीं हम इसका प्रयोग खड़ी बोली में पाते हैं, 'के' और 'लिये' साथ साथ प्रयुक्त होते हैं पर जहाँ हम 'लिये' का प्रयोग 'कारण' के अर्थ में करते हैं तब वहाँ उसके साथ 'के' नहीं लगता। जैसे—'इस लिये मैं यह काम करता हूँ'। पर 'कारण' या 'हेतु' का अर्थ जहाँ न होगा, वहाँ 'के' का प्रयोग होगा—जैसे; 'उनके लिये मैं यह काम करता हूँ।' इससे पता चलता है कि 'लिये' का प्रयोग वास्तव में 'कारण' या 'हेतु' सूचक है। पर क्रमशः हम उसका प्रयोग संप्रदान के अर्थ में करने लगे हैं। पूर्वी हिंदी में उसका प्रमाण मिलता है। यथा 'पदमावत' में—

(१) धरम लाइ कहिहौं जो पूरा।

(२) वह तोहि लागि कया सब जारी।

(३) हौं जोगी वहि लागि भिखारी।

यहाँ लाइ या लागि का, जो एक ही शब्द के रूपान्तर हैं, प्रयोग संप्रदान के अर्थ में हुआ; पर उसका मुख्य अर्थ 'कारण' 'हेतु' स्पष्ट

अंकित होता है। जैसे—धरम लाइ—धर्म के हेतु; धर्म के कारण; तोहि लागि—तेरे हेतु; वहि लागि—उसके हेतु।

हेतु, कारण या संबंध इन शब्दों के भाव आपस में बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। भाव-साहचर्य के कारण हम इन्हें पर्यायवाची शब्दों की भाँति व्यवहार में लाते हैं। यथा—

(१) तुम्हारे कारण मुझे वहाँ जाना पड़ा।

(२) तुम्हारे संबंध से मुझे ऐसा देखना पड़ा।

(३) तुम्हारे हेतु मुझे यह दुख सहना पड़ा।

ऊपर हम देखते हैं कि पूर्वी हिंदी में 'लागि' का प्रयोग हेतु, कारण या संबंध के अर्थ में हुआ है। 'लागि' का मुख्य अर्थ था 'संबंध से'। यह 'लग' या 'लग्न' से उत्पन्न है। 'लगे' का अर्थ पूर्वी हिंदी में 'पास' भी होता है। पर 'लग्न' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'निकट' 'पास' 'लगा हुआ' या 'संबंध रखता हुआ' होता है।

इस 'लग' का प्रयोग हम कई अर्थों में पाते हैं। यथा—'कारण' के अर्थ में—

(१) कि लागि सुंदरि बदन झापयसि।
हेरल चेतन मोर॥ विद्यापति—पद

(२) मोहि लगि सीय राम बनवासी। तुलसी—रामायण

'हेतु' के अर्थ में—

(१) जो तुव दरसन लागि वियोगी। उसमान—चित्रावली

(२) बूडे गहिर समुद्र मों अपने प्रीतम लागि।
नूरमुहम्मद—इन्द्रावती

'सम्बन्ध' के अर्थ में—

(१) मती हनी कछु उक्ति न आई। मध कपोल बरनों केहि लाई॥
मंझन—मधुमालती

अब यह स्पष्ट है कि 'लग' का प्रयोग उपर्युक्त अर्थों में पहले

होता था और 'लग्न' से निकला हुआ 'लग' धीरे धीरे 'लग' लाग, लाई आदि हुआ। इसी लग, से 'लिये' भी निकला हुआ जान पड़ता है। तुलसीदास ने विनय में एक स्थान में 'तेरे लिये' प्रयोग किया है। यथा—

तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार। पद १८८।

इसी स्थान में पूर्वी हिंदी में 'तोहि लग' या 'तोहि लाई' का प्रयोग होगा। यथा 'चित्रावली' में—

देव दइत तेहि लगि, भजहिं देखत पाइय प्रान।

मोहिं लगि सकति होति जिय हानी।

और इंद्रावती में भी—

बहुतन तजि जग धन्धा, तप साधा तेहि लाग।

बीसलदेव रासो में इसका रूप 'लियाँ' मिलता है। यथा—

"अरथ दरव लियाँ जीव को हाँण"। नरपति—बीसलरासो

अत: संस्कृत 'लग' से 'लाई लागी, लियाँ, लिये' आदि रूप होते हैं। इसी 'लग' से निकले हुए रूप अन्य भारतीय आर्य्य-भाषाओं में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

गुजराती में 'लगी';
नैपाली में लागी, लाई;
मराठी में लागीं; पुरानी मराठी में 'लागोनि';
पंजाबी में लागों; सिंधी में लाकू (लागूँ)।

अपभ्रंश में संस्कृत में 'लग्ने' (जिसका अर्थ है—पास में) का रूप 'लग्गे, लग्ग, लग्गहिं' होता है। इसी लग्गि या लग्गे से 'लाग, लागी, लाई, लिये' आदि का होना संभव है। अतः अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'के-लिये' में 'लिये' की उत्पत्ति 'लग' से है।

अब 'के-लिए' में 'के' की उत्पत्ति देखना है। ऊपर दिए हुए उदाहरणों में हम देख सकते हैं कि 'लिये' के रूपांतरों (लग, लाग, लागी)

का प्रयोग अकेले हुआ है और उनके साथ 'के' का प्रयोग नहीं हुआ है। भली भाँति अनुसंधान करने पर यह बात प्रकट होती है कि पूर्वी और पश्चिमी हिंदी में खड़ी बोली को छोड़कर 'लिये' या 'लाग' आदि का प्रयोग स्वतंत्र होता है और उसके साथ और कोई कारक-चिह्न नहीं लगता। अतः यह मानना पड़ेगा कि 'के-लिये' में 'के' का प्रयोग खड़ी बोली में है। पर संप्रदान कारक के लिये 'लिये' के रूपांतरों का प्रचार हिंदी की सभी उपभाषाओं में प्राचीन समय से है।

हम देख आए हैं कि कर्म और सम्प्रदान के लिये समान कारक चिह्नों में 'को, के, क, कहँ' आदि का प्रयोग होता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में हम देख चुके हैं कि 'के' की उत्पत्ति 'केरक' से है जो संबंध कारक का चिह्न था।

हम यह भी देख चुके हैं कि 'के' में एक और विभक्ति लगा कर 'केहि' हुआ। पीछे उसी से 'को, के, क' आदि हुए। अब यह स्पष्ट है कि 'के' का व्यवहार कर्म और सम्प्रदान दोनों कारकों के लिये होता था। इस 'के' का प्रयोग सम्प्रदान और कर्म के लिये हम मगही, भोजपुरी और अवधी, में देखते हैं (देखो सारिणी ग)। अतः 'के' का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से सम्प्रदान कारक के लिये पहले होता था; पीछे उसमें 'लिये' या 'लाग' (जो स्वयं सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता था) जोड़ दिया गया और के-लिये (लाग) मिलकर सम्प्रदान कारक का चिह्न हो गया।

हमारा अनुमान है कि 'के' और 'लिये' को साथ मिलाकर सम्प्रदान कारक के लिये प्रयोग करने की चाल बहुत प्राचीन नहीं है। खड़ी बोली का साहित्य तो अभी हाल ही का है; पर ब्रज और अवधी के साहित्य में भी हम इसका प्रयोग प्राचीन समय में नहीं देखते। पूर्वी हिंदी में के-लाग का एक उदाहरण इंद्रावती नामक आख्यानक काव्य में मिलता है जो विक्रमीय संवत् १८०१ का लिखा है।

जैसे—

सखी कहानी कहि गई, इंद्रावति के-लाग।

कल न परै पियारि को, बाढ़े अधिक सोहाग॥

इससे उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। 'के-लिये' का प्रचार कब हुआ, यह ठीक ठीक कहना कठिन है। पर अनुसंधान करने पर निश्चय होता है कि विक्रमीय १८ वीं शताब्दी में इसका प्रचार आरम्भ हुआ था। इसके पूर्व 'के' और 'लिये' अलग अलग सम्प्रदान के प्रयोग में आते थे।

'के-लिये' के अतिरिक्त सम्प्रदान के लिये, 'काने' 'करती' और 'खातिर' का भी प्रयोग होता है जिनकी उत्पत्ति कार्ये, कृते और खातिर (خاطر) से है। इनमें से 'करती' जिसका प्रयोग पूर्वी हिंदी में होता है, प्राचीन जान पड़ता है। 'कृते' का प्रयोग 'लिये' के अर्थ में संस्कृत में भी मिलता है। 'कृते' 'कृतः' के अधिकरण कारक का रूप है। इसमें 'ए' सप्तमी का चिह्न है। 'करती' में भी 'ई' सप्तमी का चिह्न है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी उसका रूपांतर सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता है; जैसे मराठी में 'करितां' और सिंधी में 'करे' या 'करि'

करण कारक

'ने'

संस्कृत में करण कारक के लिये केवल एक विभक्ति का प्रयोग होता है। इसी विभक्ति से करण (Agent) और उपकरण (Instrument) दोनों का काम चल जाता है। संस्कृत में करण कारक के लिये तृतीया विभक्ति 'एन' या 'एण' है। पर हिंदी में इसके लिये दो कारक चिह्नों का प्रयोग होता है। एक चिह्न तो केवल 'करण' (Agent) के लिये है; दूसरा 'उपकरण' (Instrument) के लिये है। यह भेद संस्कृत में नहीं है। संस्कृत में 'रामेण कृतम्,' 'बाणेन हतः,' इन दोनों

वाक्यों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, यद्यपि एक में तृतीया विभक्ति करण (Agent) के लिये है और दूसरे में वह उपकरण के लिये है। पर हिंदी में इसके लिये दो कारक चिह्नों का प्रयोग होता है—करण के लिये 'ने' और उपकरण के लिये 'से'। इन संस्कृत वाक्यों का अनुवाद हिंदी में यों होगा—

(१) राम ने किया। (२) बाण से मारा गया।

अब यह स्पष्ट है कि संस्कृत की तृतीया विभक्ति के स्थान में हिंदी में दो कारक-चिह्नों का प्रयोग होता है। यह भेद पीछे से हुआ है। कुछ लोग केवल 'से' को करण का चिह्न मानते हैं और 'ने' को कर्ता कारक का चिह्न कहते हैं; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। 'ने' और 'से' दोनों ही 'करण कारक' के लिये प्रयुक्त होते हैं। भेद केवल यही है कि एक Agent के लिये होता है दूसरा Instrument के लिये होता है। इन दोनों में भेद करने के लिये हम एक को 'करण' (Agent) दूसरे को उपकरण (Instrument) का चिह्न कह सकते हैं।

ऊपर हम लिख आए हैं कि 'ने' चिह्न कर्ता का नहीं है, वरन् करण का है; और वास्तविक कर्ता का चिह्न आधुनिक भाषाओं में लुप्त हो गया है और उसके स्थान में किसी चिह्न विशेष का प्रयोग नहीं होता।

करण (Agent) के लिये 'ने' का प्रचार केवल पश्चिमी हिंदी में है। इसका कारण यह है कि उसमें क्रिया का कर्मणि प्रयोग होता है। अतः कर्ता (Subject) करण कारक में होता है और उसमें करण कारक का चिह्न लगना उचित है। संस्कृत में तृतीया विभक्ति के लिये 'एन' या 'एण' का प्रयोग होता है। इसी 'एन' या 'एण' से उत्पन्न यह 'ने' चिह्न है।

प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं में जहाँ कहीं करण कारक का प्रयोग होता है, वहाँ उसके लिये संस्कृत की तृतीया विभक्ति से निकला हुआ कारक-चिह्न है। जैसे—

खड़ी बोली में	'ने'
व्रज भाषा में	'ने, नैं'
कन्नौजी में	नें
पंजाबी में	नैं
राजस्थानी में	एँ, एँ (बहु०)
मारवाड़ी में	एँ
मेवाड़ी में	नै
मराठी में	नें
गुजराती में	ए
नेपाली में	ले

पर इनकी अवस्थाओं में अन्तर है। कुछ तो संस्कृत की भाँति अभी संयुक्तावस्था (Synthetical stage) में ही हैं; जैसे, राजस्थानी, मारवाड़ी और गुजराती में, और कुछ वियोगावस्था (Analytical stage) में हैं जैसे खड़ी बोली आदि में।

'ने' की उत्पत्ति के विषय में बीम्स (Beames) साहब का कथन है कि इसकी उत्पत्ति 'लग' से हुई है; क्योंकि संस्कृत की 'एन' विभक्ति घिसते घिसते 'एँ' हो गई और उसके स्थान में 'ने' का होना नहीं हो सकता। आपका कहना है कि संस्कृत की तृतीया विभक्ति से उत्पन्न 'एँ' विभक्ति जब लुप्तप्राय हो गई, तब उसके स्थान में 'ने' का प्रयोग होने लगा जो 'लग' से उत्पन्न था। आप ने यहाँ तक निश्चय कर डाला कि 'ने' का प्रचार शाहजहाँ के समय में बढ़ा। आप Modern Aryan Languages of India Vol. II. में लिखते हैं—

It would thus appear that on the decay of the synthetical system and the fusion of all the case-endings thereof into one oblique form of analytical system, no trace of the instrumental as a separate

case remained and its place was supplied by the objective for many centuries. A partial revival of this case took place at a later period, probably about the reign of Shah Jahan, when the form ने hitherto used for the dative, began gradually extended to the noun as a subject of the verb in the past tense and thus ने came in High Hindi to be used as an Instrumental.

आप ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'ने' या 'नै' वास्तव में 'ले' या 'लै' का रूपांतर है जो 'लग' 'लागी' से निकला है और यह 'लग' पहले चतुर्थी या संप्रदान के लिये प्रयुक्त होता था (और अब भी होता है); पर पीछे से तृतीया की विभक्ति के लुप्त हो जाने पर उसके स्थान में खड़ी बोली में प्रयुक्त होने लगा। इस भ्रम में पड़ने का मुख्य कारण यह था कि बीम्स साहब ने नैपाली भाषा में संप्रदान और कर्म के लिये 'लै' और करण के लिये 'ले' चिह्न देखा और उन्होंने समझा कि करण कारक का 'ले' और संप्रदान का 'लै' दोनों एक ही हैं। संप्रदान का 'लै' चिह्न 'लग' से निकला है; अतः करण कारक 'ले' भी उसी से निकला है। इसे मानने में सब से भारी कठिनाई यह है कि संप्रदान कारक का प्रयोग कहीं भी करण कारक के लिये नहीं मिलता। आप ने 'चन्द' से एक उदाहरण दिया है जिसमें 'नैं' का प्रयोग हुआ है। आप इस 'नैं' को सम्प्रदान कारक का चिह्न मानते हैं। पर इसे करण कारक का चिह्न मानना उचित होगा।

जैसे—

बालप्पन पृथिराज नैं।
निसि सुपनंतर चिन्द॥

जिसका अर्थ होगा—बालकपन में पृथ्वीराज ने रात्रि में स्वप्न में चीह्ना (देखा)

आप एक और उदाहरण देते हैं—

अपनी बोई आप खाएँ हाकिम नें न दे दाना।

यह 'नें' चतुर्थी या संप्रदान का चिह्न है जिसका अर्थ होगा—'हाकिम को'। पर यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि यह 'नें' और करण कारक का 'ने' एक नहीं हैं। राजस्थानी, मेवाड़ी, मारवाड़ी और गुजराती में चतुर्थी के लिये क्रम से 'नै' 'कनै' 'नै' 'नां' 'ने' आदि का प्रयोग होता है।* यह 'नें' या 'नै' 'तणो' से उत्पन्न है। संबंध कारक का प्रयोग हमें बराबर चतुर्थी और द्वितीया के लिये मिलेगा। अतः केवल 'ने' और 'नें' को एक रूप में देखकर उनकी उत्पत्ति एक स्थान से मान लेना उचित नहीं है।

बीम्स साहब को हिंदी के प्राचीन काव्यों में 'ने' का प्रयोग नहीं मिला; अतः आपने यह निश्चय किया कि उस समय 'ने' का प्रचार नहीं था। दो चार उदाहरणों में आपने 'ने' चिह्न न पाकर यह लिख दिया कि—Without prolonging this enquiry by adducing any more examples, it may be said, as a general deduction from the practice of the old Hindi poets, that they are ignorant of the use of 'ने' as an instrumental case affix (p. 270.)†

बीम्स साहब का यह लिखना सर्वथा अमान्य है। हिंदी कवियों ने 'ने' का प्रयोग किया है और उसका प्रयोग प्राचीन समय से ही मिलता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसका प्रयोग कम मिलता है। कारण इसका यह है कि काव्य की भाषा में प्रायः कारक चिह्नों को उड़ा देने में सुभीता होता है। और पूर्वी भाषा में तो 'ने' का प्रयोग

* देखो सारिणी 'क'।

† देखो—The Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India, Part II.

ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। कारण यह कि उसमें क्रिया का कर्तरि-प्रयोग होता है और उसमें कर्ता स्वयं बिना चिह्न के रहता है। खड़ी बोली का जब से प्रयोग मिलता है, तब से 'ने' का रूप 'करण कारक' के लिये मिलता ही है; पर ब्रज भाषा आदि में भी 'ने' का प्रयोग मिलता है। स्वयं आदि कवि चंद ने 'करण-कारक' के लिये 'रासो' में 'न' का प्रयोग किया है। यथा—

(१) बँचि कागज चहुआन नै फिरन चंद सर थान।
मनो वीर तनु अंकरे मुगति भोग बनि प्रान॥
(रेवातट समय)

(२) पंचासज गोरी नृपति बंध उतरि नदि पार।
चंद बीर पुंडीर नै धरि मुक्के दरबार॥ ”

(३) तमसि तमसि सामन्त सब रोस भरिस प्रथिराज।
जब लगि रुपि पुंडीर नै रोक्यौ गोरी साज॥ ”

(४) बंध्यौ प्रात प्रिथिराज नें (ज्यौं) सती सत्त वंछति उर।

(५) तब लगि चम्पि प्रथिराज नें गोरी वै गुज्जर गहिय॥

(६) लाल पनै प्रथिराज नें, दिय कंचन वैमाल।
मतौ फिरि किन्नो अक्रम, नाहर राइ विसाल॥ ७ वाँ समय

(७) तार बरज्यौ वत्त बहु, एक न आवै दाइ।
उत प्रथिराज नरिंद नें सज्यौ सेन सुभाइ॥

(८) फुनि प्रथिराज कुमार नें, हय हन्यौ परिहार।
कंध दुअं कटि वग सहित, धुक्यौ धरनि असिधार॥

(९) पुच्छि चंद बरदाइ नैं, चित्र रेष उतपत्ति।
षां हुसेन षावास कहि, जिम लीनी असपत्ति॥

क्रमशः ज्यों ज्यों काव्य अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त होता गया त्यों त्यों काव्य की भाषा अधिक परिमार्जित होती गई; और सुगमता के लिये उसमें

करण कारक का प्रयोग कम होने लगा। पर फिर भी उसके उदाहरण अलभ्य नहीं हैं। यथा सूरसागर में भी—

(१) एक पुरुष ने आजु मोंहि सपनान्तर दीनों।

सूरदास ने सुगमता के लिये 'ने' का 'नि' रूप भी लिखा है; यथा—

(१) कान्ह कह्यो गिरि गोवरधन तें और देव नहि दूजा।
गोपनि सत्य मानि यह लीनो बड़ो देव गिरिराजा॥

(२) सबनि देख्यो प्रकट मूरति सहस्र भुजा पसारि।
रुचि सहित गिरि सबनि आगे करनि लै लै खाय॥

(३) अहिरनि करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनकों तुरत दिखा-वहीं।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि सूरदास ने सुगमता के लिये उपकरण (Instrument) के लिये भी वही चिह्न रखा है जो करण का था। यथा 'करनि' में जिसका अर्थ होगा 'कर से'।

खोज करने पर पता चलता है कि 'ने' का प्रयोग प्राचीन समय ही से पश्चिमी हिंदी में है, पर काव्य में उसका कम प्रयोग हुआ है। गद्य में हम 'ने' का प्रयोग बहुत प्राचीन समय ही से पाते हैं। संवत् ११४५ का लिए हुए हिंदी में पृथ्वीराज के दानपत्र में 'ने' का प्रयोग मिलता है। यथा—

"अप्रन तमने काका जीनं के दुवा को आराम चओ"* जिसका अर्थ है—अपर तुमने काका (चाचा) जी की दवा की जिस से आराम हुआ।

यही नहीं, सब से प्राचीन मराठी कवि ज्ञानेश्वर ने भी 'ने' के रूपान्तर 'नि' का प्रयोग किया है। जैसे—

(१) की वारेनि जात आहे।

---

* देखो—Plate VI. Search Report for Hindi Manuscript for 1900

(२) दिसे वारेनि जैसे जाइल ॥

(३) मुकेनि घेतले मौन जैसे ।

इतना ही नहीं पंडित हरि नारायण आपटे * का कहना है कि तृतीया के लिये 'ज्ञानेश्वरी' में कई रूपों का प्रयोग हुआ है । जैसे—

एँ, न, ण, शीं, ओं, ई । आपने उदाहरण यह दिया है—

जाणतेन गुरु भजिजे जेणें कृतकार्या होईजे । (१–२५) यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि ज्ञानेश्वरी में तृतीया की विभक्ति का प्रयोग करण और उपकरण दोनों के लिये हुआ है । यह प्रवृत्ति हम ऊपर सूरदास में भी देख चुके हैं ।

अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'ने' का प्रयोग करण कारक के लिये बहुत प्राचीन समय ही से होता आया है । इसकी उत्पत्ति के विषय में यह अनुमान कि यह तृतीया की 'एन' विभक्ति से निकला, सर्वथा सत्य जान पड़ता है । अपभ्रंश में हम 'एँ' और 'एन' या 'एण' दोनों विभक्तियों को करण कारक के लिये प्रयुक्त होते देखते हैं । हेमचंद्र ने इसे स्वीकार किया है और उदाहरण स्वरूप यह दोहा लिखा है—

जे महु दिण्णा दीहडा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण ॥

हम इस दोहे में 'एँ' और 'एण' दोनों का प्रयोग देखते हैं; यथा दइएं (दयितेन), पवसन्तेण और नहेण में । और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं—

(१) पुत्ते जाएँ कवणु गुण अवगुण कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंइहडी चम्पिज्जइ अवेरण ॥

---

*देखो—Wilson Philological Lectures by Apte, 1915. 'Marathi' P. 75–76.

(२) तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं दिट्ठउं बहुउ–जणेण।
तं तेवड्डउं समर-भरु निज्जिउ एक्क–खणेण॥

(३) सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जों कवणेण।
जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण॥

अतः अब यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश में 'एँ' और 'एण' दोनों का प्रचार था। 'एँ' को हम अभी तक उसी रूप में राजस्थानी, मारवाड़ी आदि में देखते हैं। 'एण' से निकला हुआ 'ण' या 'न' का प्रयोग हम 'ज्ञानेश्वरी' में देख ही चुके हैं। इसी 'ण' या 'न' में पीछे से 'एँ' जो स्वयं करण कारक का चिह्न था, मिल गया और उसका रूप 'न + एं' से 'नैं' या 'नें' हुआ। यह प्रायः देखा जाता है कि जब एक विभक्ति लुप्तप्राय हो जाती है, तब उसे स्पष्ट करने के लिये उसमें पुनः एक और विभक्ति जोड़ देते हैं। उदाहरण के लिये जैसे 'किस' शब्द संस्कृत 'कस्स' का रूपान्तर है जिसका अर्थ है संबंध वाचक; पर 'किस' को पूर्ण रूप से अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ जानकर हम उसमें संबध कारक का चिह्न 'का' भी जोड़ देते हैं और तब उसका रूप 'किसका' होता है। यह प्रवृत्ति पहले यहाँ तक प्रबल थी कि स्वयं कारक-चिह्नों में विभक्ति लगाते थे। यथा मधुमालती में—"औ आपन एहि केरहि पारी। क्यों कीह्न जिमि जननि दुखारी।"

यहाँ 'केर' संबंध-सूचक कारक-चिह्न है; पर उसमें भी 'हि' जो स्वयं संबंध कारक की विभक्ति है, जोड़ी गई है, और उसका रूप 'केरहि' हुआ है, जो संबंध कारक विभक्ति से युक्त संबंध कारक चिह्न है।

'नें' में 'एं' पीछे से जोड़ा गया है, इसका प्रमाण मराठी में मिलता है। मराठी में तृतीया विभक्ति 'एं' का बहुवचन 'ईं' होता है। उसी

के अनुरूप 'नें' का बहुवचन 'नीं' होता है, जो प्रत्यक्ष 'न + एँ' और 'न + ईं' से बना जान पड़ता है।

'नें' में 'एँ' का पता न पाने पर बीम्स साहब उसे 'नै' से निकला हुआ समझने लगे, जो उनके अनुसार 'लग' में उत्पन्न था। 'नें' के अनुस्वार का पता न पाकर बीम्स साहब उसे बिल्कुल उड़ा गए।

अब यह प्रकट है कि 'नें' दोहरे करण कारक (Double Instrument) का चिह्न है; और उसकी उत्पत्ति 'एण' या 'ऐन' से हुई है। यहाँ एक बात देखने की यह है कि नैपाली भाषा में करण कारक के लिये 'ले' का प्रयोग कहाँ से आया। बीम्स साहब का यह कहना कि यह 'ले' चतुर्थी या सम्प्रदान कारक के चिह्न 'लाइ' से निकला है, जो स्वयं 'लग' से निकला है, मान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि संप्रदान का प्रयोग करण के लिये कहीं देखने में नहीं आता। अतः यह 'ले' 'लग' से नहीं निकला है। वास्तव में इसका संबंध 'ने' से है। 'न' और 'ल' का आपस में परिवर्तन होता है। दो एक उदाहरण लीजिए। यथा—

लेबू का नेम्बू; लोन का नोन; नील का लील। उड़िया में लेबा (लेना) को 'नेबा' कहते हैं। उसी प्रकार बँगला में लेउन (लेना) का 'नेउन' पाया जाता है।

अतः नैपाली का 'ले' जो करण करक का चिह्न है, 'ने' का रूपान्तर है। नैपाली भाषा में 'ले' का प्रचार प्राचीन नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि उस भाषा में क्रियाएँ तो तिङंती प्रयुक्त होती हैं, पर कर्ता के साथ 'ले' लगाकर उसे पश्चिमी हिन्दी की भाँति करण कारक में रख देते हैं। साथी ही क्रिया का सम्बन्ध कर्ता से ही होता है, कर्म से नहीं। इससे पता चलता है कि वास्तव में इस भाषा में प्राचीन समय से तिङंती क्रियाओं का प्रयोग होता था और उनका संबंध कर्ता से होता था, कर्म से नहीं। पर जब पीछे से 'ने' का रूपान्तर 'ले' बाहर से आ गया तो लोग

उसे कर्ता के साथ (पश्चिमीय हिंदी की भाँति) जोड़ने लगे। पर कर्तरि प्रयोग की जो पुरानी प्रवृत्ति थी, वह न मिटी और क्रिया का संबंध कर्ता ही से रहा; और यद्यपि 'ले' या 'ने' का प्रयोग होने लगा, पर उससे वाक्य की रचना में कुछ भी उलट फेर न हुआ। और 'ले' या 'ने' का प्रयोग व्यर्थ हुआ। उपर्युक्त प्रवृत्ति को देख कर डाक्टर हार्नली लिखते हैं—

"The Nepali alone has the curious anomaly of using the active case with ले together with the active passive construction i. e. of constructing the subject like the west Gaudians, but the verb like the East Gaudians"*

अतः अब निश्चयपूर्वक यही मानना पड़ेगा कि नैपाली भाषा में क्रिया का रूप और वाक्य को बनावट पूर्वी भाषाओं की भाँति थी; पर उस पर पश्चिमीय भाषाओं का प्रभाव पड़ने के कारण 'ले' का प्रयोग होने लगा। पश्चिमीय भाषाओं में जहाँ 'ने' का प्रयोग होता है, वहाँ क्रिया कर्म के अनुसार होती है; पर नैपली में 'ले' लगने पर भी कर्ता के अनुसार होती है, कर्म के अनुसार नहीं। यथा—

(१) घोड़ो मैं ले छोड़ियो।

(२) पोथी मैं ले पठियो।

(३) घोड़ो त्रि ले छोडी। (यहाँ 'छोड़ी' 'त्रि' के अनुसार है)

ऐसा क्यों होता है, इस पर विचार करने पर पता चलता है कि नैपाली भाषा पर राजस्थानी भाषा का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसका कारण यह है कि राजपूताने के बहुत से क्षत्रिय मुसलमानी शासन काल में उनके उपद्रवों से तंग आकर, भागकर नैपाल के पहाड़ी प्रदेशों में जा बसे थे। यही कारण है कि नैपाली भाषा पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव पड़ा है और नैपाली भाषा में अनेक परिवर्त्तन भी हो गए हैं †।

*Hoernles Grammar of the Gaudian Languages pp 220, 371

† इतिहास-लेखकों ने तथा Linguistic Survey of India में डाक्टर ग्रियर्सन ने इसे स्वीकार किया है।

संबंध कारक

'का' 'की'

हिंदी में संबंध कारक ही ऐसा है जिसमें लिंग के अनुसार परिवर्तन होता है। संबंध कारक को संस्कृत के वैयाकरणों ने 'कारक' के अन्तर्गत सम्मिलित ही नहीं किया है; क्योंकि इसका सम्बन्ध अन्य कारकों की भाँति वाक्य में क्रिया से न होकर संज्ञा आदि से होता है। संस्कृत और हिंदी के सम्बन्ध कारकों में एक अन्तर है। संस्कृत के सम्बन्ध कारक की विभक्ति लिंग और वचन में 'भेदक' का अनुसरण करती है; पर हिंदी के सम्बन्ध कारक का चिह्न लिंग में 'भेद्य' के अनुसार होता है। हिंदी और संस्कृत में भी सम्बन्ध कारक विशेषण की भाँति रहता है। हिंदी की प्रायः सभी उपभाषाओं में सम्बन्ध कारक के चिह्न में लिंग-भेद पाया जाता है। यही नहीं बल्कि यह भेद सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं में पाया जाता है।

हिंदी के सम्बन्ध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति पर विचार करने के पूर्व हम उनको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे जो केर, केरी के रूपान्तर हैं; दूसरे वे जिनका सम्बन्ध किसी अन्य से है। यहाँ पर हम यह पुनः कह देना आवश्यक समझते हैं कि प्राकृतों के साथ पश्चिमी हिंदी की अपेक्षा पूर्वी हिंदी की अधिक घनिष्ठता पाई जाती है। अतः पहले हम पूर्वी हिंदी के सम्बन्ध कारक के चिह्नों को लेते हैं। पूर्वी हिंदी में सम्बन्ध कारक के चिह्न ये हैं—

केर, केरा, केरी, कर, के, कै, क।

जब से हिंदी साहित्य का प्रचार है, तभी से पूर्वी हिंदी में इनका प्रयोग मिलता है। हिंदी के सब से प्राचीन ग्रंथ पृथ्वीराजरासो में भी इसका प्रयोग मिलता है; यथा—

(१) कियौ नद नीसान फौजें सुफेरी।
मिदी दिष्टि सौं दिष्टि चहुवान केरी॥ (चन्द)

(२) दौरै गज अंध चहुवान केरौ ।
करीयं गिरंदन चिहौ चक्र फेरौ ॥ (चन्द)

हिंदी के पूर्व अपभ्रंश काल में सम्बन्ध सूचक 'केर' शब्द मिलता है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में लिखा है कि सम्बन्ध के लिये 'केर, तणो' का प्रयोग होता है। सूत्र इस प्रकार है—"सम्बन्धिनः केर तणो"*। हेमचंद्र के पूर्व धनपाल नामक कवि हुआ है। उसने अपने 'भावेसत्त कहा' में 'केर' और 'केरो' का व्यवहार किया है, जिसका अर्थ आधुनिक संबंध कारक चिह्न 'का, को' की भाँति है। जैसे हरियत्त केरी, तवकेरउ। प्राकृत में भी 'केर' का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ सम्बन्ध-सूचक है। सब से प्राचीन प्राकृत का नमूना हमें भास के नाटकों में मिलता है। भास का समय ईसा के पूर्व पाँचवीं या छठी शताब्दी है †। उस

---

* उदाहरण स्वरूप यह दोहा दिया है—

"गएउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरएँ हुंकारउएं मुहुहु पडन्ति तृणाइं" ॥

† भास का समय बहुत विवाद-ग्रस्त है। पंडित गणपति शास्त्री का, जिन्हों ने भास के नाटकों का पहले पहल पता लगाया है, मत है कि 'भास' 'कौटिल्य' के पूर्व हुए हैं। भास के नाटकों में कुछ 'आर्ष—प्रयोग' पाकर आप उन्हें 'पाणिनि' के पूर्व भी मानने के लिये तैयार हैं। अतः आप भास को ईसा के पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी में मानते हैं। इस मत के विरुद्ध पाश्चात्य विद्वानों के ये मत हैं—

(१) बारनेट (Barnett) साहब का कथन है कि जो भास कालिदास के पूर्व हुए हैं, उनकी रचना ये नाटक हैं ही नहीं; और उन नाटकों की रचना ईसवी सातवीं शताब्दी में हुई है।

(२) कीथ महाशय (Keith) का कहना है कि भास के नाटकों की रचना अश्वघोष के पश्चात् हुई। अश्वघोष का समय ईसवी दूसरी शताब्दी माना जाता है; अतः भास ईसवी तीसरी शताब्दी में हुए।

(३) महाशय लेसनी (Lesney) का मत है कि ये नाटक अश्वघोष के बाद के रचे हैं, पर कालिदास के पहले के हैं। इस मत के विरुद्ध श्रीयुक्त प. बनर्जी शास्त्री बी० ए० ने अपना मत प्रकट किया है। सारांश यह है कि भारतीय विद्वान् भास को ईसा के पूर्व मानते हैं; पर पाश्चात्य विद्वान् उनके समय को ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व नहीं जाने देते।

समय प्राकृत बोल चाल की भाषा थी। भास के नाटकों का अभी थोड़े ही दिन हुए, पता लगा है। उन नाटकों में 'केरओ' (जो आधुनिक 'केर' का पूर्व रूप है) का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

परकेरओ (परकीय:)	—स्वप्नवासवदत्ता	पृ०	४०
तस्स केरओ (तदीय:)	—चारुदत्त	,,	८२
मम केरओ (मामकीय:)	,,	,,	७४
अत्तकेरओ (आत्मकीय:)	,,	,,	४३
परकेरअं (परकीयं)	,,	,,	४०

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास के समय में प्राकृत में 'केरओ' संस्कृत 'कीय' या 'ईय' प्रत्ययों के स्थान पर आता था। इसी 'कीय' प्रत्यय का प्राकृत में 'केर' हुआ जो पृथक् शब्द की भाँति व्यवहार में आने लगा। ऊपर दिए हुए उदाहरणों में ही हम 'केर' के दो रूप देखते हैं—'केरओ' और 'केरअं'। अत: यह निश्चय है कि उसमें भी कारक विभक्तियाँ लगाई जाती थीं और वे 'भेद्य' के अनुसार होती थीं। यथा, परकेरअं सरीरं—चारुदत्त पृ० ४०। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ओ' और 'अं' प्राकृत में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन की विभक्ति हैं; अत: 'कीय' प्रत्यय का रूपान्तर 'केर' है। 'केर' को पृथक् शब्द की भाँति काम में लाने की प्रवृत्ति आगे चलकर दृढ़ होती गई। भास के तीन चार शताब्दी पश्चात् शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नाटक की रचना की। यह नाटक भास के 'चारुदत्त' नाटक के आधार पर लिखा गया है। उसमें 'केर' के स्थान में 'केरक' या 'केलक' के प्रयोग मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मृच्छकटिक	पृ०	३८	अत्त केरकं गेहं
	,,	४०	वशन्तशेणा केलके खुण्डमोडके...
	,,	६३	वेस्साजण केरको...अलंकारो...
	,,	६४	अज्जस्स केरओ......

मृच्छकटिक	पृ०	६५	तस्स केरश्रो
	,,	६८	अम्ह केरकं गेहद्वारं
	,,	५०	मम केरिश्रा णहाणसाडिश्रा
	,,	५५	वड्ढार केरिआए सुवर्ण सअडिआए
	,,	१०४	अप्पणो केरिकं जादिं
	,,	११२	लश्टि अशाल काह केलके...वज्जाणे
	,,	११८	अत्तण केलकं
	,,	११९	वप्प केलके पवहणे
	,,	१२२	मम केलकादो...पवहणादो
			मम केलिकाइं गोणाइं
	,,	१३२	मम केलके वज्जाणे
	,,	१३३	मम केलकं पुप्पकलण्डकं
	,,	१३९	अत्तण केलका मे भूमि
	,,	१५२	तवशिशणीए केलिका अलंकाला
	,,	१५३	अज्ज चारुदत्तस केरकाइं···एदाइं
	,,	१६४	अत्तण केलिकाए...पदोलिकाए
			मम केलिकाए
	,,	१६७	मम केलिका वभभ्फवालिका *

इन उदाहरणों में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि 'केर' का रूप बदलकर 'केरक' हो गया; अर्थात् इसमें 'क' का अन्यत्र से आगम हुआ। दूसरी यह कि 'केरक' में लिंग-भेद भी आ गया और उसका रूप 'केरिआ' 'केलका' हुआ। तीसरी यह कि भास के समय में 'केर' केवल सर्वनामों के साथ प्रयुक्त होता था; पर शूद्रक के समय में वह संज्ञाओं के साथ भी प्रयुक्त होने लगा। चौथी यह कि 'केरक' का

* मृच्छकटिकम् Edited by Stenzller A. F. (Bonn 1847)

संबंध भेद्य से है, भेदक से नहीं; *और उसी के अनुसार 'केरक' का भी रूप चलता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि शूद्रक के समय में 'केरक' स्वतंत्र विशेषण की भाँति प्रयोग में आने लगा और उसका संबंध विशेष्य से होता था। उदाहरण के लिये—

(१) 'अत्तण केलिका भूमि'। यहाँ भूमि के अनुसार 'केलिका' भी स्त्रि० है।

(२) 'मम केलिकाइं गोणाइं'। यहाँ 'गोणाइं' के बहुवचन होने के कारण 'केलिकाइं' भी बहुवचन है।

(३ केलकादो...पवहणादो। यहाँ 'पवहणादो' अपादान कारक है; अतः 'केलकादो' भी अपादान कारक में है।

(४) संक्षेप में मृच्छकटिक में 'केरक' का रूप इस प्रकार मिलता है—

'केरक'

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	केरको (पुं) केरिआ (स्त्रि०) केलिका (स्त्रि०)	केरकाइं (स्त्रि०)
द्वितीया	केरकं (न०) केरिकं (स्त्रि०) केलकं (न०)	केलिकाइं (स्त्रि०)
तृतीया	केरिआए	
चतुर्थी	+	
पंचमी	केलकादो	
षष्ठी	+	
सप्तमी	केलके (न०) केलिकाए (स्त्रि०)	

* वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध होता है, उसे 'भेद्य' कहते हैं और 'भेद्य' के संबंध से सम्बन्ध कारक को 'भेदक' कहते हैं। जैसे 'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' 'भेदक' और 'घोड़ा' 'भेद्य' है। (भाषा-विज्ञान—पृ० ३७०)

अतः यह स्पष्ट है कि 'केरक' पृथक् शब्द की भाँति व्यवहार में आता था। शूद्रक ने अपने नाटक में कई प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया है जिससे पता चलता है कि 'केरक' का प्रयोग किन किन प्राकृतों में कितना होता था। मृच्छकटिक में आए हुए 'केरक' के प्रयोग की जाँच करने पर पता चलता है कि २३ उदाहरणों में से

७ शौरसेनी में
६ मगधी में
७ शाकारी में
१ अवंतिका में
१ प्राच्य में और
१ चाण्डाली में

कुल २३

प्रयोग हुए हैं। इससे निश्चय होता है कि शौरसेन, मगध, शाकार प्रदेशों में अर्थात् उत्तरी भारत में 'केरक' का प्रयोग शूद्रक के समय में बाहुल्य से होता था। शाकार प्रदेश से हमारा तात्पर्य उस प्रदेश से है जहाँ 'शाकारी' बोली जाती थी। शाकारी भाषा अपभ्रंश की एक उपभाषा है। उस समय यह राजपूताने के आसपास बोली जाती थी; क्योंकि आभीर या शाकार जाति वहीं पर बसती थी। शूद्रक के पश्चात् प्राकृत में 'केरक' का प्रयोग नहीं मिलता। इसका एक कारण है। शूद्रक के समय में प्राकृत का प्रचार था; पर वह क्रमशः अपना रूप बदल रही थी। उसके स्थान में अपभ्रंश भाषा का प्रचार बढ़ता जाता था। अतः पीछे के नाटककारों ने जिस प्राकृत का प्रयोग अपने नाटकों में किया, वह बोलचाल की न थी, वरन् 'गढ़ी हुई' भाषा थी, जिसे व्याकरणों के आधार पर कवि लोग बना लेते थे। अभी तक प्राकृत के जितने व्याकरण मिलते हैं, प्रायः सभी में संस्कृत से प्राकृत बनाने के कुछ नियमों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उन्हें एक प्रकार से व्याकरण

कहना ही व्यर्थ है। इसी से पता चलता है कि संस्कृत से प्राकृत बना कर कृत्रिम प्राकृत का नाटकों में प्रयोग करने की प्रथा चल पड़ी थी। इसी से शूद्रक के पीछे बोलचाल की प्राकृत का स्वाभाविक स्वरूप देखने में नहीं आता। 'केरक' के भी उनमें न मिलने का यही कारण है। 'केरक' का प्रयोग बोलचाल की भाषा में अवश्य था; पर यह कहना कठिन है कि किस रूप में था।

अपभ्रंश काल में आकर हम पुनः 'केर' का प्रयोग पाते हैं जिस का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। इसी 'केर' से पूर्वी हिन्दी के संबंध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति हुई है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है। लिंग का भेद हम शूद्रक के समय में ही पाते हैं। क्रमशः उसकी प्रवृत्ति दृढ़ होती गई और अब उसे हम आधुनिक चिह्नों में देखते हैं। यहाँ हम अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक समझते हैं, जिससे हमारे उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारी अन्य आर्य्य भाषाएँ भी एक प्राचीन भाषा से निकली हैं और उनमें बड़ी घनिष्ठता है। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि प्रायः सभी आर्य्य भाषाओं में, जो भारत में बोली जाती हैं, संबंध कारक में लिंग का भेद है। यहाँ एक बात यह भी कहना चाहते हैं कि उनमें से अधिकतर भारतीय आर्य्य भाषाओं के संबंध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति 'केर' से ही हुई है। इस पर कुछ कहने के पूर्व हम एक बार सारिणी 'क' की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। उसमें देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि—

बँगला	की	एर, र
उड़िया	,,	कर, र
मारवाड़ी	,,	रो,
गुजराती	,,	केरो

आदि का संबंध भी 'केरक' से ही है। बँगला में 'केरक' का रूप

'एर' हो गया है और उससे 'र' हो गया। प्राचीन उड़िया भाषा में 'कर' का प्रयोग मिलता है। आधुनिक भाषा में 'कर' का 'र' हो गया है। मारवाड़ी में 'केरो' के 'क' के लोप हो जाने पर केवल 'रो' रह गया है। गुजराती में 'केरो' का ज्यों का त्यों रूप मिलता है। प्राचीन गुजराती में तो 'केरक' के तीनों लिंगों के रूप मिलते हैं, जैसा कि प्राकृत में हम देख चुके हैं। वे रूप यों हैं—

	पुं०	न०	स्त्रि०
प्रथमा एक०	केरो	केरुं	केरी
,, बहु	केरा	केरां	,,
विकृत रूप	केरा, केरे	केरा,	,,

उदाहरण के लिये—

(१) चंपक केरो बड़ेरो, मैं राखो छे घेर।

(सामलदास-पद्मावती)

(२) हुकम होय हजूरी केरी शोषी नाखुं बाँधो सायर।

(अंगद, अवस्थो)

(३) जान्ही केरा तरंग तजीने तटमा जाइ कूप खोदे रे।

(नरसिंह मेहता, काव्य)

लिंग-भेद की प्रवृत्ति अवधी तथा पूर्वी भाषा में प्राचीन समय से है। यथा 'पद्मावत' में—

(१) यह सब समुंद बुंद जेहि केरा (पुं०)

(२) बाँधी अहे सिहिटि सत केरी (स्त्रि०)

(३) औ जमकात फिरै जम केरी (स्त्रि०)

रामायण आदि पीछे के काव्यों में इसका बाहुल्य से प्रयोग मिलता है। उदाहरण देना व्यर्थ है।

पूर्वी हिंदी और खड़ी बोली में संबंध कारक का एक चिह्न 'के' भी है, जो कभी कभी पूर्वी हिंदी में दोनों लिंगों के लिये आता है।

खड़ी बोली में तो उसके लिये विशेष नियम हैं। इस 'के' की उत्पत्ति 'केर' से ही है। 'र' का लोप हो जाने पर ऐसा हुआ है। उस 'केर' से निकला हुआ 'कर' भी है, जिसका प्रयोग 'पद्मावत' में दोनों लिंगों में हुआ है; यथा—

(१) लेखा हियें प्रेम कर दीया।

(२) हौं पंडितन केर पछ लागा।

(३) तेहि सेवक कर तहाँ उबारा।

'कर' का एक और रूप 'र' के गिर जाने पर हुआ है जो 'क' है। सुगमता के लिये कहीं कहीं 'कर' के स्थान पर 'क' का प्रयोग होता है। यथा—

(१) धनपति उहै जेहि-क संसारा—जायसी।

(२) पितु आयसु सब धरम-क टीका—तुलसी।

'केर' से निकला हुए 'के' या 'कै' पूर्वी हिंदी में प्रयुक्त हुआ है*; यथा—

मुहमद चिंगी प्रेम 'कै'। —जायसी।

सुनहु विभीषण प्रभु कै रीति। —तुलसी।

'के' का प्रयोग खड़ी बोली में और आधुनिक पूर्वी भाषाओं में भी होता है।

अब रहा खड़ी बोली, ब्रज भाषा और कन्नौजी के संबंध कारक के चिह्नों के विषय में जानना। खड़ी बोली में 'के' चिह्न की उत्पत्ति 'केर' से है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इसी 'के' का प्रयोग कन्नौजा में भी होता है। ब्रज भाषा में पु० के लिये 'कौ' का प्रयोग होता है। इसी का दूसरा रूप 'को' कन्नौजी में है। ये दोनों रूप साहित्य में मिलते हैं; यथा—

(१) एक विभीषण को घर नाहीं। —रामायण।

---

* चंद ने भी रासो में 'कै' का प्रयोग किया है; यथा—

दहवि पुत्र कविचन्द कै सुन्दर रूप सुजान।

(२) आए नामदेव पाँड़े पूछे नामदेव जू सों दूध को प्रसंग अति रंग भर भाखियें। —भक्तमाल की टीका।

'को' का दूसरा रूप 'कउ' 'वीसल देव रासो' में मिलता है। 'कउ' भी 'कर' का रूपांतर ही जान पड़ता है। इसका रूप सर्वनामों के साथ प्राप्त होता है; यथा—

म्हाकउ = मेरा ❀ —बीसलदेव रासो।

इसका प्राकृत में 'मम केरओ' रूप ऊपर देख ही चुके हैं। 'कन' का 'कश्र' होना असंभव नहीं है। स्वयं पूर्वी हिंदी में 'क' पाया जाता है। ऊपर हम उदाहरण देख ही चुके हैं। इसी 'क' या 'कश्र' से खड़ी बोली का 'का' बनता है।

यह तो हुआ पुं० संबंध कारक चिह्नों के विषय में। खड़ी बोली में तथा ब्रज और अवधी में भी संबंध कारक में स्त्रीलिंग का चिह्न अलग होता है। खड़ी बोली में इसका चिह्न 'की' है। संबंध कारक के चिह्नों में लिंग के अनुसार परिवर्तन होने की प्रवृत्ति हम प्राचीन समय ही से देखते हैं। ऊपर देख आए हैं कि प्राकृत काल ही में 'केरक' या 'केलक' का रूप लिंग के अनुसार भिन्न भिन्न होता था। 'केरक' का रूप स्त्रि० में 'केरिआ' 'केलिका' या 'केरिका' होता था। यह प्रवृत्ति बराबर चली गई; और उसी के अनुसार आधुनिक भाषाओं में भी हम संबंध कारक लिंग के अनुसार भिन्न भिन्न रूप पाते हैं। पूर्वी हिंदी में हमें इसके लिये 'केरि' चिह्न मिलता है और पश्चिमी हिंदी में 'की'। 'केरक' के स्त्रीलिंग रूप 'केरिक' से उत्पन्न 'केरि' या 'केरी' का प्रयोग हम साहित्य में प्राचीन समय ही से पाते हैं; यथा—

भिदी दिष्टि सों दिष्टि चहुवान केरी। —चंद।

पूर्वी भाषा में कवियों ने स्त्री॰ के लिये बराबर 'केरी' या 'केरि' का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देना उचित होगा; जैसे—

❀ पांकन म्हाकउ राखज्यो मान। —बीसलदेव रासो।

(१) ता करि चाह कहै जो आई। —पद्मावत जायसी।

(२) सेवा केरि आस तोहि नाहीं। ,,

(३) बाँधी सिहिटि अहै सत केरी। ,,

जिस प्रकार 'केर' का 'कअ' और 'के' होता है, वैसे ही 'केरि' का 'कइ' और 'की' हुआ है।

तुलसीदास ने स्त्री० के लिये 'कइ' का प्रयोग किया है; यथा—

(१) भामिनि भयहु दूध कइ माखी। —रामायण।

(२) तिन्ह कइ गति मोहि देहु शिव। ,,

'कै' को दो प्रकार से पढ़ते थे। पुं० के लिये 'कै' या 'कय' और स्त्री० के लिये उसे 'कइ' की भाँति पढ़ते थे। पर लिखने में दोनों के लिये 'कै' ही लिखते थे। जहाँ स्त्री० के रूप में इकार को दीर्घ पढ़ना होता था, वहाँ उसका रूप 'की' होता था। पूर्वी भाषाओं में भी हमें 'की' का प्रयोग प्राचीन समय से ही मिलता है; जैसे 'मधुमालती' में, जो पद्मावत के पूर्व लिखी गई है—

(१) दुष्ट साध की हियें समानी।

(२) ता महँ चख की छाया, दीसै तिल अनुमान।

(३) धाई बात प्रेम की, मोहि दुख कहो न जाय।

पीछे के कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है; यथा—

(१) पदमावति राजा कै (कइ) बारी। —पदमावत, जायसी।

(२) राम प्रीति की रीति आप नीके जानियत हैं—तुलसी, विनय,

(३) राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि ,,

(४) का सेवा सुग्रीव की। ,,

(५) श्री रघुबीर की यह बानि। —तुलसी, विनय०।

चित्रावली में

(१) देखेसि ससि माता की कोरा ,, —उसमान।

(२) कौंलावति की माता जहाँ। ,, ,,

(३) रति के रूप रंग की जाई। ,, ,,

इन्द्रावती में

(१) प्रिय की प्रीति बखानै, एक न राखै गोई। —नूर मुहम्मद।

(२) सुख जीवन तामों मिले, पूजत मन की आस। ,,

(३) रसना एक न कहि सकों, आगमपुर की बात। ,,

पश्चिमी हिंदी में तो इसका प्रयोग मिलना ही चाहिए; क्योंकि 'केरी' के स्थान पर इसके 'की' रूप ही का प्रचार वहाँ था। चन्द ने रासो में भी 'की' का प्रयोग किया है; यथा—

(१) क्रयं गाह इक मुगद् की क्यों कग्जै बाषान। —रेवा तट।

(२) इतनी सीष रिसीष की, सुनि पग बन्दे चंद—६२ वाँ समय।

(३) जा पाछे इंछनीय, सलष की सुता बताइय।—६५ वाँ समय।

सूर ने भी बराबर इसका प्रयोग किया है; जैसे—

(१) दशरथ कौशल्या के आगे लसत सुमन की छहियाँ।

—सूरसागर।

(२) मंदाकिनी तट फटिक सिला पर, सुख मुख जोरि तिलक की करनी। —सूरसागर।

(३) दशरथ मरन हरन सीता को, रन बीरन की भीर। ,,

(४) देखत प्रभु की महिमा अपार। ,,

अब यह प्रकट है कि 'केरी' के स्थान में संबंध कारक के लिये स्त्रीलिंग 'की' कारक के चिह्न का प्रयोग पूर्वी और पश्चिमी हिंदी के साहित्य में प्राचीन समय ही से है। पर साहित्य में इसका प्रयोग पा कर यह न समझ लेना चाहिए कि बोल चाल की भाषा में भी इसका

प्रयोग रहा होगा। हिंदी साहित्य की भाषा बोल चाल की भाषा से भिन्न थी। उसमें प्रांतिक प्रयोग पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।* कवि अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार प्रयोगों को लेता था।

आधुनिक समय में हम 'की' का प्रयोग बोल-चाल में केवल पश्चिमी हिंदी में पाते हैं; जैसे राजस्थानी, मेवाड़ी, खड़ी बोली, ब्रज और कन्नौजी में। कन्नौज के आगे 'केरी' या 'केरि' का प्रचार है। स्त्रीलिंग के लिये संबंध कारक में 'केरी' और 'की' दोनों का प्रयोग पुराना है। अपभ्रंश काल ही में हम इनका प्रयोग पाते हैं। जैसे हेमचंद्र के दोहे में 'की' का प्रयोग—

पुत्ते जाएँ कवणु गुण अवगुण कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुँहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

और 'केरी' का प्रयोग धनपाल कृत 'भाविसत्त कहा' में† 'हरिदत्तहो केरी' (हरिदत्त की) मिलता है।

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है कि आधुनिक हिंदी में जितने कारक चिह्न संबंध कारक के लिये प्रयुक्त होते हैं, उनमें से प्रायः सब की उत्पत्ति प्राकृत के 'केरओ' या 'केरक' से है; और उनमें जो लिंगभेद है, वह भी प्राचीन समय ही से है। अब यहाँ देखना यह है कि 'केरओ' की उत्पत्ति कहाँ से हुई।

पहले हम देख चुके हैं कि 'केरओ' का पहले पहल प्रयोग भास में 'कीय' प्रत्यय के स्थान में हुआ है। और इसका प्रयोग केवल उन सर्वनामों के साथ हुआ है, जिनके साथ संस्कृत में 'कीय' प्रत्यय का प्रयोग

---

* जहाँ कवि ने प्रांतिक भाषा में काव्य रचने का ध्यान रखा है, वहाँ ऐसा नहीं हुआ है। जैसे जायसी की पदमावत में हम 'की' के स्थान में 'केरी' ही का प्रयोग पाते हैं जो पूर्वी हिंदी का प्रयोग है।

† देखो Introduction भावे सत्तकहा Edited by Dalal and Gune G. O. Serie

होता है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संस्कृत में जहाँ 'कीय' प्रत्यय का प्रयोग होता था, उसी के स्थान में प्राकृत में 'केर' का प्रयोग होता था। अतः 'कीय' और 'केर' एक ही शब्द के हैं। यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्यय किसी समय है सम्पूर्ण स्वतंत्र शब्द थे। क्रमशः घिस घिसाकर वे प्रत्यय हो गए। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'कीय' किसी समय एक स्वतंत्र शब्द रह होगा और कालान्तर में वह विकृत होकर 'कीय' हो गया।

'कीय' प्रत्यय का अर्थ है 'का' या 'संबंध रखनेवाला;' जैसे राज-कीय = 'राजा का' या 'राजा से संबंध रखनेवाला'। 'राजकृतः' का भी वही अर्थ होगा जो 'राजकीय' का होगा। 'कृत' और 'कीय' प्रत्यय के अर्थों में बहुत कुछ साम्य है। संभव है और अधिक संभव है कि 'कीय' प्रत्यय 'कृतः' से बिगड़कर बना हो। 'कृतः' से उत्पन्न क्रियाओं का रूप आधुनिक भाषा में भी 'कीय' से मिलता जुलता है। 'कृतः' से निकली क्रिया का रूप 'किया' होता है जो 'कीय' के अनुरूप है— 'कृत' 'किय' या 'कीय'। यहाँ एक बात और ध्यान देने की यह है कि 'किया' के अतिरिक्त 'कृतः' के और भी रूपान्तर हैं जो आधुनिक भाषाओं में तथा प्राचीन साहित्य में भी पाए जाते हैं। वे 'कीय' प्रत्यय के स्थान में प्रयुक्त 'केर' से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। यथा—

बँगला में 'करिल'

मराठी में 'केला'

पश्चिमीय हिंदी में करा, करी (स्त्री०)

पूर्वी हिंदी में 'कइल'

ब्रज में 'करी' कन्नौजी में 'कर्यो', और मारवाड़ी में 'कर्यो'। यहाँ हम स्पष्ट देख सकते हैं कि 'कृतः' से उत्पन्न क्रियाओं में 'करिल' (बँ०), 'केरिक' या 'केरिओं' से 'केला' (म०) 'केलक' या 'केलओं' से (प० हि०) 'करा' और 'केरी,' 'केर' और 'केरिअ' से कितने मिलते हैं।

जब हम 'कृतः' से उत्पन्न 'किय' 'किया' 'करा' 'केला' 'करी' आदि रूप क्रिया में पाते हैं, तो इसके मानने में हमें किसी प्रकार की शंका नहीं रह जाती कि 'कृतः' से कीय, केर, केरि केलक, केलिक * आदि की भी उत्पत्ति हुई।

हिन्दी साहित्य में हमें 'किया' के स्थान में 'करी' 'करिय' और 'कर्‌यो' रूप भी मिलता है; जैसे चन्द के रासा में—

(१) बिंद ललाट प्रसेद कर्‌यो संकर गजराजं ॥

(रेवातट)

(२) तिहि ऊपर चामंड कर्‌यौं हुस्सैन बांन सजि।

(रेवातट)

(३) करिय अरज उमराव।

(रेवातट)

(४) सब मिलि सु ताहि पुज्जा करिय। (आदि पर्व)

सूर कृत सूरसागर में—

(१) अहिरनि करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनको तुरत दिखावहिं।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से उपर्युक्त कथन की और भी पुष्टि होती है और यह निश्चय होता है कि 'कृतः' से ही उत्पन्न 'कीय' और 'केर' आदि हैं।

हमारी सम्मति में जिस समय 'कीय' का व्यवहार संस्कृत में होता था, उसी समय केर का व्यवहार बोलचाल की भाषा में होता था। 'कीय' का प्रयोग हमें पाणिनि के पूर्व नहीं मिलता। वेदों में 'ईय' प्रयत्न का व्यवहार है, पर 'कीय' का नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'कीय' 'ईय' और 'क' प्रत्ययों के मिलने से बना है।

* यहाँ पर मान लेना आवश्यक है कि 'क' केलक में पीछे से जुड़ा है और उसका रूप केलओ या केरओ होगा। और प्रथमा की विभक्ति में 'र' के स्थान में मागधी में 'ल' होता है।

पर इसे मानने में एक बाधा यह है कि तब प्राकृत में उसका रूप 'केर' कैसे होगा। वेदों में 'क' प्रत्यय संबंध-सूचक है और उसका प्रयोग यों हुआ है; जैसे—

मामक (ऋग्वेद) वार्षिक, वासन्तिक ❀।

'ईय' प्रत्यय का भी प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है; यथा—

गृह्मेधीय (ऋग्वेद)

पार्वतीय (अथर्व वेद) †।

यदि हम यह मान लें कि 'मामक' में पीछे से 'ईय' लगा और उसका रूप 'मामकीय' बना, तो उसके मानने में बाधा यह पड़ती है कि तब 'मामकीय:' के लिये प्राकृत में मम-केरओ कैसे हुआ।

'कीय' यदि 'क' और 'ईय' के मिलने से बना, तो उसके लिये प्राकृत में 'केर' क्यों आया। 'केर' 'कृत' का रूपान्तर हो सकता है, यह हम ऊपर देख आए हैं। अत: यही कहना पड़ेगा कि 'कीय' प्रत्यय वैदिक काल के पश्चात् 'कृत' से निकला और इसका प्रयोग संस्कृत काल में हुआ। पर यह निश्चय है कि पाणिनि के समय में इसका प्रचार था। और यह बात संभव भी है; क्योंकि वैदिक काल के बहुत पीछे पाणिनि का समय है। पाणिनि के समय में संस्कृत में 'कीय' और प्राकृत में 'केर' का प्रयोग था, ऐसा जान पड़ता है।

डाक्टर भांडारकर का मत है कि 'केर' या 'केरक' की उत्पत्ति 'कार्य्य' से है ‡। 'कार्य्य' का प्राकृत में 'कज्ज' और 'कारिज्ज' होता है' जिससे आधुनिक 'काज' और 'कार' बनते हैं। पर इससे 'केर' होना संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि 'कार्य्य' का कहीं ऐसा प्रयोग

❀ देखो Vedic Grammar by A. A. Macdonell. p. 137 (&. 208)

† देखो Vedic Grammar by Macdonell p-137 (& 203)

‡ Wilsons' Philological Lectures on Sanskrit and the derived Languages. 1877. p. 258.

नहीं मिलता जिससे 'संबंध' का भाव व्यक्त हो। तीसरी बात, जैसा कि हार्नली महाशय कहते हैं यह है—

"कार्य passive है और उसका अर्थ है what is to be done. (जो किया जानेवाला हो)। अतः 'कार्य' का प्रयोग ऐसे स्थान में नहीं हो सकता जहाँ 'किया हुआ' का भाव होगा; जैसे—राजकृतं-राजकेरं राजा का (राजा से किया हुआ) में।

डाक्टर भांडारकर को 'कार्य' से 'केर' को इसलिये निकालना पड़ा कि 'केर' प्राकृत में स्वतंत्र संज्ञा की भाँति व्यवहार में आता था और उसमें विभक्तियाँ लगती थीं। अतः उन्होंने समझा कि यह किसी संज्ञा से अवश्य उत्पन्न है। पर हम ऊपर देख चुके हैं कि 'केर' 'कृत' से उत्पन्न है और पहले इसका प्रयोग प्राकृत में 'कीय' प्रत्यय के स्थान में होता था और धीरे धीरे यह विशेषण की भाँति व्यवहार में आने लगा और इसके वचन, लिंग और कारक के अनुसार भिन्न भिन्न रूप होने लगे। लिंग-भेद की प्रवृत्ति तो अभी तक पाई जाती है। पर वचन और कारक के अनुसार भेद करने की प्रथा अपभ्रंश के पश्चात् लुप्त हो गई। कहीं किसी ने भूल से यदि कोई प्रयोग कर दिया तो कर दिया; जैसे मधुमालती में (विक्रमीय १६ वीं शताब्दी) 'केर' में पुनः संबंध कारक की 'विभक्ति' ही लगी है। यथा—

औ आपन पहि केरहि पारी। क्यों कीन्हसि जिमि जननि चिन्हारी॥

(क्रमशः)

(२२) क्षत्रियों के गोत्र

[लेखक-राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

ब्राह्मणों के गौतम, भारद्वाज, वत्स आदि अनेक गोत्र (ऋषि-गोत्र) मिलते हैं जो उन (ब्राह्मणों) का उक्त ऋषियों के वंशज होना प्रकट करते हैं। ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों के भी अनेक गोत्र उनके शिला-लेखादि में मिलते हैं; जैसे कि चालुक्यों (सोलंकियों) का मानव, चौहानों का वत्स, परमारों का वशिष्ठ, वाकाटकों का विष्णुवर्द्धन आदि। क्षत्रियों के गोत्र किस बात के सूचक हैं, इसके विषय में मैंने टाड राजस्थान के सातवें प्रकरण पर टिप्पणी करते समय प्रसंग-वशात् वाकाटक वंश का परिचय देते हुए लिखा था—"वाकाटक-वंशियों के दानपत्रों में उनका विष्णुवर्द्धन गोत्र में होना लिखा है। बौद्धायन प्रणीत 'गोत्र-प्रवर-निर्णय' के अनुसार विष्णुवर्द्धन गोत्रवालों का महर्षि भरद्वाज के वंश में होना पाया जाता है। परंतु प्राचीन काल में राजाओं का गोत्र वही माना जाता था, जो उनके पुरोहितों का होता था। अतएव विष्णुवर्द्धन गोत्र से अभिप्राय इतना ही होना चाहिए कि इस वंश के राजाओं के पुरोहित विष्णुवर्द्धन गोत्र के ब्राह्मण थे।"* कई बरसों तक मेरे उक्त कथन के विरुद्ध किसी ने कुछ भी नहीं लिखा। परंतु अब उस विषय की चर्चा खड़ी हुई है जिससे उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्रीयुक्त चिंतामणि विनायक वैद्य एम० ए० एल-एल० बी० के नाम और उनकी 'महाभारत मीमांसा' पुस्तक से हिंदी-प्रेमी परिचित ही हैं। वैद्य महाशय इतिहास के भी प्रेमी हैं। उन्होंने ई० सन् १९२३ में "मध्य-युगीन भारत, भाग दूसरा" नाम की मराठी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें

* खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) का छपा हिंदी 'टॉड राजस्थान,' खंड १, पृ० ५३०-३१।

हिन्दू राज्यों का उत्कष अर्थात् राजपूतों का प्रारंभिक (अनुमानतः ई. सन् ७५० से १०००तक का) इतिहास लिखने का यत्न किया है। उसमें क्या राजपूत विदेशी हैं, अग्निकुल की झूठी कल्पना, पृथ्वीराज रासे की ऐतिहासिक आलोचना, क्या अग्निवंशी गूजर हैं, राजपूतों के गोत्र और आर्य जाति का राजपूताने में बसना आदि विषयों पर अपना मंतव्य तथा चित्तौड़ के गुहिलवंशियों, साँभर के चौहानों, कन्नौज के सम्राट् प्रतिहारों (पड़िहारों), अनहिलवाड़े (पाटण) के चावड़ों, धार के परमारों, बुंदेलखंड के चँदेलों, चेदि अर्थात् त्रिपुरि के कलचुरियों, बंगाल अथवा मूँगेर के पालवंशियों, दक्षिण के राष्ट्रकूटों (राठौड़ों) आदि का कुछ इतिहास, तथा उस समय की भाषा, धार्मिक परिस्थिति, सामाजिक स्थिति, वर्णव्यवस्था, राजकीय परिस्थिति, मुल्की और फ़ौजी व्यवस्था आदि कई ऐतिहासिक विषयों का समावेश किया है। वैद्य महाशय का यत्न बड़ा ही सराहनीय है। मेरे इस लेख का उद्देश्य उनके ग्रंथ की समालोचना करना नहीं, किंतु केवल राजपूतों (क्षत्रियों) के गोत्र के संबंध में मेरा और उनका जो मतभेद है, उसी का निर्णय करना है। वैद्य महाशय ने 'राजपूतों के गोत्र' तथा 'गोत्र और प्रवर' इन दो लेखों में यह बतलाने का यत्न किया है कि क्षत्रियों के जो गोत्र हैं, वे उनके मूल पुरुषों के सूचक हैं, पुरोहितों के नहीं; और पहले क्षत्रिय लोग ऐसा ही मानते थे (पृ०६१)। अर्थात् भिन्न भिन्न क्षत्रिय वास्तव में उन ब्राह्मणों की संतति हैं जिनके गोत्र वे धारण करते हैं।

अब इस विषय की जाँच करना आवश्यक है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूल पुरुषों के सूचक हैं वा उनके पुरोहितों के, जो उनके संस्कार करते और उनको वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कराते थे।

(१) याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के विवाह प्रकरण में कैसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिए, यह बतलाने के लिये नीचे लिखा हुआ श्लोक है—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजां ।

पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा । ५३ ॥

आशय—जो कन्या नीरोग, भाईवाली, भिन्न ऋषि-गोत्र की हो, और (वर का) माता की तरफ से पाँच पीढ़ी तक और पिता की तरफ से सात पीढ़ी तक का जिससे संबंध न हो, उससे विवाह करना चाहिए।

वि०सं० ११३३ और ११८३ के बीच दक्षिण (कल्याण) के दरबार के चालुक्य (सोलंकी) राजा विक्रमादित्य (छठे) के समय के पंडित विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्य स्मृति' पर 'मिताक्षरा' नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसका अब तक विद्वानों में बड़ा सम्मान है और जो सरकारी न्यायालयों में भी प्रमाण रूप मानी जाती है। उक्त टीका में ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोक के 'असमानार्षगोत्रजां' चरण का अर्थ बतलाते हुए विज्ञानेश्वर ने लिखा है—'राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्यों में अपने गोत्र (ऋषि गोत्र) और प्रवरों का अभाव होने के कारण उनके गोत्र और प्रवर पुरोहितों के गोत्र और प्रवर* समझने चाहिएँ †। साथ ही उक्त कथन की पुष्टि में आश्वलायन का मत उद्धृत करके बतलाया है कि राजाओं और वैश्यों के गोत्र वे ही मानने चाहिएँ जो उनके पुरोहितों के हों ‡। मिताक्षरा के उक्त अर्थ के विषय में श्रीयुक्त वैद्य

* प्रत्येक ऋषिगोत्र के साथ बहुधा तीन या पाँच प्रवर होते हैं जो उक्त गोत्र (वंश) में होनेवाले प्रवर (परम प्रसिद्ध) पुरुषों के सूचक होते हैं। कश्मीरी पण्डित जयानक अपने 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' में लिखता है—

काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम् ।

कलावपि प्राप्य स चाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥२।७१॥

आशय—रघु का वंश (सूर्यवंश) जो पहले (कृतयुग में) काकुत्स्थ, इक्ष्वाकु और रघु इन तीन प्रवरोंवाला था, वह कलियुग में चाहमान (चौहान) को पाकर चार प्रवरवाला हो गया।

† राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ ।
(मिताक्षरा, पृ० १४)

‡ तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणीत इत्युक्त्वा पौरोहित्यान् राजविशां प्रवृणीते इत्याश्वलायनः । (वही, पृ० १४)

जी का कथन है—'मिताक्षरा-कार ने यहाँ ग़लती की है, इसमें हमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है' (पृ० ६०) 'मिताक्षरा के बनने के पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे' (पृ०६१)। इस कथन का आशय यही है कि मिताक्षरा के बनने के पीछे क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक हैं, ऐसा माना जाने लगा; पहले ऐसा नहीं था।

अब हमें यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि मिताक्षरा के बनने के पूर्व क्षत्रियों के गोत्रों के विषय में क्या माना जाता था। वि० सं० दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि हुआ, जो पहले ब्राह्मण था, परंतु पीछे से बौद्ध हो गया था। वह कुशन वंशी राजा कनिष्क का धर्मसंबंधी सलाहकार था, ऐसा माना जाता है। उसके 'बुद्धचरित' और 'सौंदरानंद काव्य' कविता की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट समझे जाते हैं। उसकी प्रभावोत्पादक कविता सरलता और सरसता में कवि-शिरोमणि कालिदास की कविता के जैसी ही है; और यदि कालिदास की समता का पद किसी कवि को दिया जाय तो उसके लिये अश्वघोष ही उपयुक्त पात्र हो सकता है। उसको हिन्दुओं के शास्त्रों तथा पुराणों का ज्ञान भी अनुपम था, जैसा कि उसके उक्त काव्यों से पाया जाता है। सौंदरानंद काव्य के प्रथम सर्ग में उसने क्षत्रियों के गोत्रों के संबंध में जो विस्तृत विवेचन किया है, उसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

यही मत बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षी का है (पुरोहित प्रवरो राज्ञाम्)—देखो 'गोत्रप्रवर निबंधकदंबम्,' पृ० ६०।

बुँदेला राजा वीरसिंह देव (बरसिंह देव) के समय मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रंथ लिखा था। उसमें भी क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक माने हैं—

तत्र द्विविधाः क्षत्रियाः केचिद्विद्यमान मंत्रदृशः केचिदविद्यमान मंत्रदृशः। तत्र विद्यमान मंत्रदृशः स्वीयानेव प्रवरान्प्रवृणीरन्। येत्वविद्यमान मंत्रदृशास्ते पुरोहितप्रवरान् प्रवृणीरन्। स्वीय प्रवरत्वेपि स्वस्य पुरोहितगोत्रप्रवरपक्ष एव मिताक्षराकारमेधातिथिप्रभृतिभिराश्रितः।

'वीरमित्रोदय,' संस्कार प्रकाश, पृ० ६५६।

"गौतम गोत्री कपिल नामक तपस्वी मुनि अपने माहात्म्य के कारण 'दीर्घतपस्' के समान और अपनी बुद्धि के हेतु काव्य (शुक्र) और अंगिरस के समान था। उसका आश्रम हिमालय के पार्श्व में था। कई इक्ष्वाकु-वंशी राजपुत्र मातृद्वेष के कारण और अपने पिता के सत्य की रक्षा के निमित्त राजलक्ष्मी का परित्याग कर उस आश्रम में जा रहे। कपिल उनके उपाध्याय (गुरु) हुए, जिससे राजकुमार जो पहले कौत्स गोत्री थे, अब अपने गुरु के गोत्र के अनुसार गौतम गोत्री कहलाए। एक पिता के ही पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण भिन्न भिन्न गोत्र के हो जाते हैं, जैसे कि राम (बलराम) का गोत्र 'गार्ग्य' और वासुभद्र (कृष्ण) का 'गौतम' हुआ। जिस आश्रम में उन राजपुत्रों ने निवास किया, वह 'शाक' नामक वृक्षों से आच्छादित होने के कारण वे इक्ष्वाकुवंशी 'शाक्य' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। गौतम ने अपने वंश की प्रथा के अनुसार उन राजपुत्रों के संस्कार किए और उक्त मुनि और उन क्षत्रिय-पुंगव राजपुत्रों के कारण उस आश्रम ने एक साथ 'ब्रह्मक्षेत्र' की शोभा धारण की *।"

* गौतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्मभृतां वरः ।
बभूव तपसि श्रान्तः काक्षीवानिव गौतमः ॥ १ ॥
माहात्म्याद्दीर्घतपसो यो द्वितीय इवाभवत् ।
तृतीय इव यश्चाभूत् काव्याङ्गिरसयोर्धिया ॥ ४ ॥
तस्य विस्तीर्णतपसः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
क्षेत्रं चायतनं चैव तपसामाश्रयोऽभवत् ॥ ५ ॥
अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ १८ ॥
मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ॥ २१ ॥
तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरोर्गोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥ २२ ॥
एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।
राम एवाभवद् गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥ २३ ॥

अश्वघोष का यह कथन मिताक्षरा के बनने से १००० वर्ष से भी अधिक पूर्व का है; अतएव श्रीयुत वैद्य के ये कथन कि 'मिताक्षराकार ने गलती की है और मिताक्षरा के पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे' सर्वथा मानने योग्य नहीं हैं; और क्षत्रियों के गोत्रों को देखकर यह मानना कि ये क्षत्रिय उन ऋषियों (ब्राह्मणों) के वंशधर हैं जिनके गोत्र वे धारण करते हैं, सरासर भ्रम ही है। पुराणों से यह तो पाया जाता है कि अनेक क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए और उनसे कुछ ब्राह्मणों के गोत्र चले *; परन्तु उनमें यह कहीं लिखा नहीं मिलता कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशधर हैं।

शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥२४॥
स तेषां गोतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः।***॥२५॥
तद्वनं मुनिना तेन तैश्च क्षत्रियपुङ्गवैः।
शान्तां गुप्तां च युगपद् ब्रह्मक्षत्रश्रियं दधे ॥२७॥

—सौंदरानंदकाव्य। सर्ग १।

* सूर्यवंशी राजा मांधाता के तीन पुत्र पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचकुंद हुए। अंबरीष का पुत्र युवनाश्व और उसका हरित हुआ, जिसके वंशज अंगिरस हारित कहलाए और हारित गोत्री ब्राह्मण हुए।

तस्यामुत्पादयामास मांधाता त्रीन्सुतान्प्रभुः ॥७१॥
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचकुंदं च विश्रुतम्।
अम्बरीषस्य दायादो युवनाश्वोऽपरः स्मृतः ॥ ७२ ॥
हरितो युवनाश्वस्य हारिताः शूरयः स्मृताः।
एते ह्यङ्गिरसः पुत्राः क्षात्रोपेता द्विजातयः ॥७३॥

—वायुपुराण अध्याय ८८।

अंबरीषस्य मांधातुस्तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोभूत्। तस्माद्धरितो यतोऽङ्गिरसो हारिताः॥५॥

—विष्णुपुराण। अंश ४, अध्याय ३.

विष्णुपुराण की टीका में—

अंबरीषस्य युवनाश्वः प्रपितामहसनामा यतो हरिताद्धारिता अंगिरसो द्विजा हरितगोत्रप्रवराः। (पृ० ६। १)।

चंद्रवंशी राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने ब्रह्मत्व प्राप्त किया और उनके वंशज ब्राह्मण हुए जो कौशिक गोत्री कहलाते हैं। पुराणों में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

यदि क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों (गुरुओं) के सूचक न होकर उनके मूल पुरुषों के सूचक होते, जैसा कि श्रीयुक्त वैद्य का मानना है, तो ब्राह्मणों के समान उनके गोत्र सदा वे के वे ही बने रहते और कभी न बदलते। परंतु प्राचीन शिलालेखादि से ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिनसे एक ही कुल या वंश के क्षत्रियों के समय समय पर भिन्न गोत्रों का होना पाया जाता है। ऐसे थोड़े से उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

मेवाड़ (उदयपुर) के गुहिल वंशियों (गुहिलोतों, गोहिलों, सीसोदियों) का गोत्र वैजवाप है। पुष्कर के अष्टोत्तर-शत लिंगवाले मंदिर में एक सती का स्तंभ खड़ा है जिस पर के लेख से पाया जाता है कि वि० सं० १२४३ माघ सुदी ११ को ठ० (ठकुराणी) हीरवदेवी ठा० (ठाकुर) कोल्हण की स्त्री सती हुई। उक्त लेख में ठा० कोल्हण को गुहिलवंशी और गौतम गोत्री * लिखा है। काठियावाड़ के गुहिल भी, जो मारवाड़ के खेड़ इलाके से वहाँ गए हैं और जो मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने को गौतम गोत्री मानते हैं। मध्य प्रदेश के दमोह जिले के मुख्य स्थान दमोह से गुहिल वंशी विजयसिंह का एक शिलालेख मिला है, जो इस समय नागपुर म्यूजिअम में सुरक्षित है। वह लेख छंदो-बद्ध डिंगल भाषा में खुदा है और उसी के अंत का थोड़ा सा अंश संस्कृत में भी है। पत्थर का कुछ टुकड़ा टूट जाने के कारण संवत् जाता रहा है। उसमें गुहिल वंश के चार राजवंशियों के नाम क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह दिए हैं, जिनको विश्वामित्र गोत्री † और गुहिलोत ‡ (गुहिल वंशी)

---

* राजपूताना म्यूजिअम् (अजमेर) की ई० सन् १९२०—२१ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेखसंख्या ५ ।

† विसामित्त गोत्त उत्तिम चरित विमः पवित्तो० (पंक्ति ६ठी; डिंगल भाग में) विस्वा (श्वा) मित्रे सु (शु) भे गोत्रे (पंक्ति २६, संस्कृत अंश में) ।

‡ विजयसीहु धुर चरणो चाई सूरोऽसुमधो ¦सेलखनकम्र कुशलो गुहिलौतो सब्ब गुणे (पं० १३—१५, डिंगल भाग में)।

बतलाया है। ये मेवाड़ से ही उधर गए हुए प्रतीत होते हैं; क्योंकि विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तौड़ की लड़ाई में लड़ा और उसने दिल्ली की सेना को परास्त किया *। इस प्रकार मेवाड़ के गुहिल वंशियों के तीन भिन्न भिन्न गोत्रों का पता चलता है।

इसी प्रकार चालुक्यों (सोलंकियों) का मूल गोत्र मानव्य था और मद्रास अहाते के विशाखपट्टन (विजगापट्टम्) जिले के जयपुर राज्य (जमींदारी) के अंतर्गत गुणपुर और मोडगुला के ठिकाने अब तक सोलंकियों के ही हैं और उनका गोत्र मानव्य † ही है, परन्तु लूणवाड़ा, पीथापुर और रीवाँ आदि के सोलंकियों (बघेलों) का गोत्र भारद्वाज होना श्रीयुक्त वैद्य महाशय ने बतलाया है (पृ० ६४)।

इस प्रकार एक ही वंश के राजाओं के भिन्न भिन्न गोत्र होने का कारण यही मानना पड़ता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के ही सूचक हैं; और जब वे अलग अलग जगह जा बसे तब वहाँ जिसको पुरोहित माना, उसी का गोत्र वे धारण करते रहे।

राजपूतों के गोत्र उनके वंशकर्ता के सूचक न होने तथा उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होने के कारण पीछे से उनमें गोत्र का महत्त्व कुछ भी रहा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। केवल पुरानी रीति के अनुसार संकल्प, श्राद्ध आदि में उसका उच्चारण होता रहा है। सोलंकियों का प्राचीन गोत्र मानव्य था और अब तक भी कहीं कहीं वही माना जाता है। गुजरात के मूलराज आदि सोलंकी राजाओं का गोत्र क्या माना जाता था, इसका कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलता। तो भी संभव है कि या तो मानव्य या भारद्वाज हो। परन्तु उनके पुरोहितों का गोत्र वसिष्ठ ‡ था, ऐसा गुर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वर देव के 'सुरथो-

* जो चित्तोडहुँ जुज्झिअउ जिण दिलीदलु जित्तु। (पं० २१)।

† 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास। भाग १, पृ० २०४।

‡ नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण); भाग ४ पृ० २

त्सव काव्य' से निश्चित है। आज भी राजपूताने आदि के राजपूत राजाओं के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों से बहुधा भिन्न ही हैं।

ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि राजपूतों के गोत्र सर्वथा उनके वंशकर्ताओं के सूचक नहीं, किंतु पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होते थे और कभी कभी पुरोहितों के बदलने पर गोत्र भी बदल जाया करते थे। यह रीति उनमें उसी समय तक बनी रही, जब तक कि पुरोहितों के द्वारा उनके वैदिक संस्कार होकर प्राचीन शैली के अनुसार वेदादि पठन-पाठन का क्रम उनमें प्रचलित रहा। पीछे तो वे गोत्र नाम मात्र के रह गए। केवल प्राचीन प्रणाली को लिए हुए संकल्प, श्राद्ध आदि में गोत्रोच्चार करने के अतिरिक्त उनका महत्व कुछ भी न रहा और न वह प्रथा रही कि पुरोहित का जो गोत्र हो वही राजा का भी हो।

(२३) प्रतिमा-परिचय

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

(१)

उपक्रम, गणपति, सूर्य, नवग्रह और देवियाँ।

किसी वस्तु की उसी के समान आकृतिवाली बनाई हुई दूसरी वस्तु, चाहे वह उससे छोटी हो अथवा बड़ी, प्रतिमा कहलाती है। विविध रंगों द्वारा हाथों से चित्र बनाना अथवा आलोक-लेख्य यंत्र द्वारा किसी वस्तु का बिम्ब लेना भी एक प्रकार की प्रतिमा ही है। प्रतिमा की सराहनीयता और मुख्यता उसके भाव और आकृति में है। प्रतिमा में और उस वस्तु में जिसकी वह प्रतिमा हो, आकृति का साम्य ऐसा होना चाहिए और ऐसी भाव-व्यंजकता होनी चाहिए कि देखनेवाला देखते ही "हाँ ठीक वही वही" कह उठे। कुशल सिद्धहस्त पुरुषों ने अपने मस्तिष्क से ऐसे ऐसे ढंग निकाले हैं जिनके द्वारा उदासीनता, वीरता, हँसी, रुदन आदि ऐसा कौन सा भाव है, जो नयनों का विषय न बना दिया गया हो। देखिए, कुछ दिनों पहले हमें भारतवर्ष स्कूलों के नकशों में ही दिखाया जाता था। हमारे देश-भक्त भारत को भारत माता कह कर संबोधन करने लगे और वन्दे मातरम् आदि गीतों द्वारा स्तवन करने लगे। चित्रकारों ने अपनी नूतन निर्माण-निपुण-मेधा से लंका के स्थान में एक कमल स्थापित किया। उस पर एक स्त्री की आकृति बनाई, उसके लम्बे लम्बे काले बाल बना कर हिमालय को द्योतित किया।

शिर से कश्मीर, विस्तृत वक्ष और भुजाओं से सौराष्ट्र वंगादि देश, पतले चरणादि अधोभाग से मद्रास आदि प्रदेश बतला कर एक चमत्कृत भारत माता हमारी आँखों के सामने खड़ी कर दी। यहीं तक नहीं, उसे अपने इच्छानुसार कभी प्रसन्न कभी खिन्न भी दिखा डाला। यह अभी पाषाण की नहीं बनी है, परंतु पहले भूमि देवी की, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, पाषाण की मूर्ति बनाकर मंदिरों में पधराई गई थी। जहाँ तक हम विचार कर सके हैं, हमको ऐसा प्रतीत होता है कि इसी चेष्टा और मनोयोग ने इस अखिल संसार के स्वामी को विविध रूप से प्रतिमा स्वरूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। भगवान् को अलंकार-युक्त भाषा में वर्णन करना उसकी प्रतिमा निर्माण करने का पूर्वरूप है।

ऐसा नियम है कि संसार में जब कोई नई बात उत्पन्न होती है, तब पहले उसके निर्धारित नियम नहीं होते। वे पीछे से बन जाते हैं और बनकर फिर उस बात को परिवर्धित करते हैं। उदाहरणार्थ नाचने को ले लीजिए। जो प्रारम्भिक गात्र-विक्षेप था, वह पश्चात्कालीन नियमों के प्रभाव से कला अथवा विद्या के स्वरूप में परिणत हो गया। ऐसी ही स्थिति प्रतिमाओं के विषय में भी हुई। प्रतिमाएँ कैसे बनानी चाहिएँ, इस विषय में अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए और अनेक ग्रंथों में प्रसंगवश इस विषय के वर्णन सन्निविष्ट किए गए। खेद का विषय है कि अभी तक कई एक ऐसे ग्रंथ जिनका पता लग चुका है, छपे नहीं है, और जो नष्ट हो गए, उनकी तो बात ही क्या। विष्णुधर्मोत्तर, शिल्परत्न, रूपमण्डन, विश्वकर्म शास्त्र, पूर्व कारणागम, उत्तर कामिकागम, अंशुमद्भेदागम, सुप्रभेदागम आदि ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें देव-प्रतिमाओं के निर्माण करने के नियमों का सविस्तर वर्णन मिलता है। मत्स्य, भविष्य, अग्नि आदि पुराणों में भी इस विषय का कुछ कुछ वर्णन पाया जाता है।

अभी तक जो प्राचीन से प्राचीन मूर्तियाँ* मिली हैं, वे ईसा से दो शताब्दी पूर्व की हैं। इनमें एक तो दक्षिण भारत के गुडिमल्लम् नगर का शिवलिंग है और दूसरा बेसनगर का गरुड़-स्तम्भ। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि प्रतिमा-निर्माण-विधायक ग्रंथों की रचना आज से बाईस सौ वर्ष के पूर्व अवश्य अच्छे प्रकार से हो चुकी होगी और उस समय शैव, वैष्णवादि पंथों की उपचित अवस्था थी। हिंदू लोग आज कल देवी और देवताओं की मूर्तियाँ, शालग्राम, बाणलिंग, यंत्र, गो और गरुड़ादि पशु-पक्षी, गंगा-यमुना आदि नदियाँ, पुष्करादि जलाशय, तुलसी, पीपल, वट आदि वृक्ष और भारद्वाजादि सन्तों की समाधियों को पूजते हैं और पूजा के प्रसंग में कलश, शंख आदि भी पूज लेते हैं। मूर्तियाँ मन्दिरों में तो प्रसिद्ध रूप से पूजी ही जाती हैं, परंतु बहुत से अपने घरों में ही विराजमान कर उन्हें पूजते हैं और अपने अलग ही इष्ट देवता और कुल देवता बनाए रखते हैं।

शालग्राम अघटित प्रतिमा है। गंगा की जो प्रसिद्ध शाखा गंडकी है, उसमें ये बहुतायत से होते हैं। इन गोल वटिकाओं में ऐसी रेखाएँ सी होती हैं जो चक्राकार दिखाई देती हैं, जिनके कारण लोग उसमें विष्णु के चक्र की भावना करते हैं। शालग्राम कई रंगों के होते हैं और रंगों के अनुसार उनके नृसिंह, वामन, वासुदेव, दामोदरादि नाम रखे जाते हैं और उनके पूजन का भिन्न भिन्न फल वर्णन किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि वटिका लाल हो तो वह भोगप्रद है; नीली हो तो सुख और संपदप्रद है। जिस शालग्राम में २ चक्र हों, उसे लक्ष्मी नारायण कहते हैं। यदि कोई ऐसी वटिका हो जिसमें एक ही पंक्ति में अनेक

---

* आज कल प्रतिमा और मूर्ति पर्यायवाची हो गए हैं। वस्तुतः प्रतिमान, प्रतिबिंब, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्चा, प्रतिनिधि और प्रतिमा पर्यायवाची शब्द हैं। "मूर्ति" शरीर के अर्थ का द्योतक है "नहि मे तप्यमानस्य छयंयारयन्ति मूर्त्तयः" (वाल्मीकीय रामायण बालकांड) यहाँ मूर्ति से अंग अर्थ लिया गया है।

चक्र हों, तो वह अशुभ और अमंगलकारी है। शालग्राम की पूजा वैष्णव और वैदिक शैव करते हैं; आगमिक शैव और वीर शैव नहीं करते। शालग्राम और बाणलिंग को "अव्यक्त" प्रतिमा कहते हैं।

बाणलिंग प्रायः पहलूदार अंडाकार पत्थर के होते हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य ने अपनी सिद्धान्त-सारावली में लिखा है कि ईश्वर (शिव) बाणलिंग से प्रसन्न होते हैं। ये अंगुल के आठवें भाग से लेकर एक हाथ तक के हो सकते हैं। इनका रंग पके हुए जामुन (जम्बु) का सा, शहद का सा, मूँगिया सा, कसौटी जैसा, नीला, गहरा लाल अथवा हरा होता है। पीठ उसी रंग की होनी चाहिए जिस रंग का बाणलिंग हो। इनकी आकृति गौ के स्तन जैसी अथवा अंडे जैसी होनी चाहिए और ये अतिशय कांतिमान् होने चाहिएँ। ये बाणलिंग नैपाल के महेन्द्र पर्वत के अमरेश्वर स्थान में और कन्या-तीर्थ तथा उसके समीपवर्ती आश्रम में पाए जाते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि उपर्युक्त प्रत्येक स्थान में एक एक करोड़ बाणलिंग हैं और श्रीशैल, लिंगशैल और कलिगर्त्त में तीन तीन करोड़।

प्रतिमाएँ तीन प्रकार की होती हैं। चल, अचल और चलाचल। चल प्रतिमाएँ धातुओं की बनाई जाती हैं और वे ऐसी होती हैं कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से रखी जा सकें। अचल प्रतिमाओं को मूल विग्रह अथवा ध्रुवबेर* भी कहते हैं और इनके स्था-

---

* बेर और विग्रह "शरीर" के अर्थ में हैं।

ध्रुवं तु ग्रामरक्षार्थमर्चनार्थं तु कौतुकम्।
स्नानार्थं स्नपनं प्रोक्तं बल्यर्थं बलिबेरकम्।
उत्सवं चोत्सवार्थं च पञ्चबेराः प्रकल्पिताः।

यह श्लोक भृगुप्रोक्त वैखानसागम का है। ध्रुवबेर अर्थात् अचल प्रतिमाएँ, जिनकी संज्ञा ध्रुवबेर है, ग्राम की रक्षा के लिये, कौतुकबेर अर्चन के लिये, स्नपन प्रतिमाएँ स्नान के लिये, बलिबेरक बलि प्रदान के लिये और उत्सवबेर उत्सव में (बाहर निकालने के लिये) होती है।

नक (खड़ी हुई), आसन (बैठी हुई) और शयनरूप ❀ से तीन भेद होते हैं। वैष्णव प्रतिमाओं में इन तीन भेदों के पुनरपि चार भेद होते हैं, जिनकी योग, भोग, वीर और अभिचारक † संज्ञाए हैं। प्रतिमाओं के तीन भेद और भी हैं; अर्थात् चित्र, चित्रार्द्ध और चित्राभास। जिसमें सब अवयव दिखाए गए हों, ऐसी प्रतिमा "चित्र" कहलाती है। जिसमें अर्धाङ्ग चित्रित हो, वह चित्रार्द्ध; और जो वस्त्रों और भीतों पर लिखी जाती हैं, उन्हें चित्राभास कहते हैं। स्वभाव भेद से प्रतिमाओं के शान्त अथवा सौम्य और रुद्र अथवा उग्र भेदों की भी कल्पना की गई है।

प्रतिमा को जब मंदिर में पधराते हैं, तब "प्राणप्रतिष्ठा" करते हैं। यदि प्रतिमा पधरने के पश्चात् खंडित हो जाय, तो उस खंडित प्रतिमा को किसी जलाशय अथवा नदी में डाल देते हैं। मंदिरों के ऊपर साधुओं की मूर्तियाँ, गोपुर और शिखर बनाते हैं; एवं कलश और पताकाएँ लगाते हैं। मंदिरों में सभा-मंडप होते हैं और परिक्रमा के पिछले ताक में उसी देवता की प्रतिमा होती है, जिसका वह मंदिर हो। मंदिरों में शिलालेखों में और प्रतिमाओं के आसनों पर मंदिर बनानेवाले अथवा महन्त पुजारी आदि का नाम लिखने की प्राचीन शैली है। ऐसे लेख इतिहास के सहायक हुए हैं।

शंकर का मंदिर ‡ ग्राम की उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य में, विष्णु का

❀ शयन करती हुई प्रतिमा देवताओं में केवल विष्णु की और देवियों में योगनिद्रा की है।

† अभिचारक प्रतिमा की पूजा शत्रु का पराजय अथवा मरण करने के लिये की जाती है। ऐसी मूर्ति का मन्दिर वन, गिरि, जल, दुर्ग ऐसे स्थानों में बनाया जाता है, न कि नगर के भीतर।

‡ "मंदिर" शब्द देवालय के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, परंतु यह संस्कृत भाषा में "भवन" के अर्थ में सामान्य रूप से आता है। प्राचीन काल में देवालयों के अतिरिक्त प्रतिमागृह तथा देवकुल भी थे।

पश्चिम में, सूर्य का पूर्व में पश्चिमाभिमुख, दुर्गा का दक्षिण में और सुब्रह्मण्य (षडानन) का उत्तर पश्चिम में होना चाहिए। विनायक के साथ सप्तमातृकाओं का मन्दिर दुर्ग के परिकोटे के निकट उत्तर दिशा में बनाना चाहिए। ज्येष्ठा देवी को जलाशय की पाल पर पधराना चाहिए। मन्दिरों के विमान (वह भाग जहाँ मूर्ति रहती है) सम, चौरस, वृत्त (गोल), आयतस्र अथवा वृत्तायुत होते हैं। इनमें पिछले दो प्रकार के विमान विष्णु की शयन-प्रतिमा में लगाए जाते हैं। शेषशायी विष्णु के मंदिर का मुख किसी भी दिशा में बनाया जा सकता है। परंतु यदि उत्तराभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर पूर्व को, यदि दक्षिणाभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर पश्चिम को, यदि पूर्व अथवा पश्चिमाभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर दक्षिण को होना चाहिए।

प्रतिमाएँ काष्ठ, पाषाण, रत्न, धातु, हाथीदाँत, कड्डी (एक प्रकार की चिकनी मिट्टी) और मृतिका की बनाई जाती हैं। नवग्रहों की मूर्तियाँ धान से और गोवर्धन की गाय के गोबर से भी बनाते हैं। रत्न में स्फटिक, पद्मराग, वज्र (हीरे), वैदूर्य, विद्रुम (मूँगे), पुष्प

भास के प्रतिमा नाटक के तृतीय अंक में एक प्रतिमागृह का वर्णन है, जिसमें यह बताया गया है कि (देवकुलिक दैवतशङ्कया, ब्राह्मण-जनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया अत्र भवन्तः) भरत को यह कहता हुआ मना करता है कि ये मूर्तियां क्षत्रियों की हैं। आप कदाचित् ब्राह्मण हों तो इन्हें नमस्कार मत कर बैठें। भरत का वचन कि—

कामं दैवतमित्येव युक्तं नमयितुं शिरः।
बार्षलस्तु प्रणामः स्याद्मन्त्रार्चितदैवतः॥

भी इस बात का प्रमाण है कि भास के समय में मूर्तिपूजा विद्यमान थी। परंतु एक समय ब्राह्मण क्षत्रियों (जैसे राम, कृष्णादि) की पूजा नहीं करते थे (शिव, विष्णवादि) देवताओं को मन्त्रों द्वारा अवश्य करते थे। भास और कौटिल्य के पूर्व भी पटने के निकट शिशुनाग वंशी राजाओं या देवकुल था, जहाँ से महाराज उदयन और नंदिवर्धन की मूर्तियाँ मिली हैं।

(पुखराज) और रत्न (लाल) को समझना चाहिए। आजकल जो प्रतिमाएँ दिखाई देती हैं, वे काले अथवा सफेद पत्थर की होती हैं; और इसका मुख्य कारण यही ज्ञात होता है कि ऐसी प्रतिमाएँ स्नान कराने से बिगड़ती नहीं। परन्तु प्राचीन काल में भिन्न भिन्न रंगों की मूर्तियाँ होती थीं। एलोरा और अजंटा की गुफाओं में प्रमाण स्वरूप ऐसी रंगीन मूर्तियाँ अभी तक विद्यमान हैं। प्रतिमा पट्ट पर प्रकृति के स्वरूपों को विशेष संकेतों से प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ वायु को बादलों की राशि की पंक्तियों के समान; जल को लहराती हुई पंक्तियों से और बीच बीच में खिले अधखिले कमल कमल-पत्र तथा मीन, मकर, नक्र दिखाने से; अग्नि को कुछ लहराती हुई शिखाओं से। परन्तु ऐसी अग्नि बहुधा शिव की प्रतिमाओं के हाथों में ही दिखाई जाती है और वह आयुध के स्वरूप की सूचक है। सामान्य स्वरूप से हवि ग्रहण करती हुई अग्नि हवन कुंड की अग्नि के समान प्रदर्शित की जाती है। पर्वतों को एक के ऊपर एक शिलोच्चय का आस्तरण दिखा कर और स्वर्गीय प्राणियों को उड़ते हुए प्रदर्शित करते हैं।

प्रतिमाओं में जो आयुध दिखाए जाते हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

चक्र और गदा—विष्णु की प्रतिमा में।

धनुष, बाण, खड्ग और खेटक—विष्णु की त्रिविक्रमावतार की प्रतिमा में।

परशु, खट्वांग, शूल और अग्नि—शिव की प्रतिमा में।

अंकुश और पाश—गणेश, सरस्वती आदि देवियों की प्रतिमाओं में।

शक्ति, वज्र और टंक—सुब्रह्मण्य की प्रतिमा में।

मूसल और हल—बलराम और बाराह की प्रतिमा में।

ऊपर जो वर्णन दिया है, वह साधारण स्वरूप से है। प्रतिमाओं में इससे हेर फेर मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं। विष्णु के एक हाथ में शंख

प्राय: अनिवार्य रूप से मिलता है। इस शंख का नाम पाञ्चजन्य है। इस पर कभी कभी सिंह का मुख भी लगाया हुआ होता है और कभी कभी इस पर मोतियों की लड़ियाँ और झालरें भी लटकाई हुई होती हैं। विष्णु की और दुर्गा की, जो विष्णु की बहन अथवा विष्णु का ही स्त्री स्वरूप है, प्रतिमाओं में चक्र दिखाया जाता है। इसको दो तरह से दिखाते हैं। एक तो गाड़ी के पहिये की सी तरह; दूसरे कमल की पंखड़ियों के समान खूब सजा कर। खेटक ढाल को कहते हैं। खट्वांग एक विचित्र डंडा सा होता है जो भुजा की अथवा टाँग की हड्डी का बना हुआ होता है और उसके सिरे पर मनुष्य की खोपड़ी जुड़ी हुई होती है। खट्वांग और शूल अथवा त्रिशूल शंकर के प्रिय आयुध हैं। टंक छेनी को कहते हैं। पाश (फाँस या फंदा) शत्रु के हाथ पाँव बाँधने की रस्सी है। वज्र विद्युत् का स्वरूप है। यह दो सम भागों का होता है जो ऊपर और नीचे जुड़े हुए होते हैं। प्रत्येक भाग में पक्षियों के नखों के समान तीन नख होते हैं। शक्ति छड़ी जैसी होती है। शेष आयुधों की आकृति लोकप्रसिद्ध है।

प्रतिमाओं में आयुधों के अतिरिक्त बाजे भी दिखाए जाते हैं। विष्णु और कृष्ण की प्रतिमाओं में शंख और मुरली, सरस्वती की प्रतिमा में वीणा, शिव की प्रतिमा में डमरू और कभी कभी घंट भी प्रदर्शित किया जाता है। इसके अतिरिक्त शिव के हाथ में मृग अथवा मेंढ़ा, ब्रह्मण्य के हाथ में कुक्कुट, दुर्गा के हाथ में शुक दिखलाते हैं। प्रतिमाओं में कमंडलु दर्पण, पुस्तक, स्रुक, स्रुव, कपाल, पद्म, नीलोत्पल और अक्षमाला भी बनाई हुई होती है। सरस्वती और ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक होती है और कभी कभी ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक के स्थान में आज्यपात्र। स्रुक और स्रुव यज्ञ के लम्बे चमचे होते हैं। स्रुक में आगे कटोरे का सा भाग होता है और वह अन्नपूर्णा की प्रतिमा में प्राय: प्रदर्शित किया जाता है। पद्म और नीलोत्पल विशेषत: लक्ष्मी और भूमि देवियों के हाथों में होते हैं। रुद्राक्ष

अथवा कमलाक्ष की माला ब्रह्मा, सरस्वती और शिव के ही हाथों में होती है।

अब प्रतिमाओं में हाथों के दिखाने का प्रकार, मुद्रा और आसनों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। "वरद हस्त" वरदान देते हुए का स्वरूप है। इस अवस्था में बाएँ हाथ की हथेली और नीचे को ओर झुकी हुई उँगलियाँ पूरी खुली हुई, खाली अथवा धीरे से गुलिका को लिए हुए दिखाई जाती हैं। "अभय हस्त" में हथेली और ऊँचे की ओर जाती हुई उँगलियाँ ऐसी बनाई जाती हैं, मानों कोई क्षेम कुशल पूछ रहा है। "कटक हस्त" में उँगलियों के पोर अँगूठे से मिले हुए एक छल्ला बनाते हुए से होते हैं। इसे "सिंहकर्ण" भी कहते हैं। ऐसी आकृति शेषशायी विष्णु के एक हाथ को और देवियों के हाथों की पुष्प पधराने के लिये बना देते हैं। "सूची हस्त" में तर्जनी ऊपर की ओर खुली हुई और शेष उँगलियाँ और अँगूठा बंद किया हुआ दिखाया जाता है। "कट्यवलम्बित हस्त" लटका हुआ और सिंह पर आश्रित होता है। "दंड हस्त" और "गज हस्त" डंडे की तरह अथवा हाथी के सूँड़ की तरह पुरोगामी दिखाया जाता है। "अंजली हस्त" में भुजाएँ छाती से स्पर्श करती हुई और दोनों हाथों की हथेलियाँ मिली हुई होती हैं। "विस्मय हस्त" आश्चर्यसूचक है। इस अवस्था में हाथ ऊँचा और हथेली प्रतिमा की ओर, न कि दर्शक की ओर, दिखाई जाती है।

"चित् मुद्रा" में उँगलियों के पोर अँगूठे से मिले हुए और हथेली दर्शक की ओर दिखाई जाती है। इसे "व्याख्यान मुद्रा" और "संदर्शन मुद्रा" भी कहते हैं। "ज्ञान मुद्रा" में अँगूठा और उसके पास की उँगली का पोर मिला हुआ होता है और हथेली को हृदय की ओर प्रदर्शित करते हैं। "योग मुद्रा" में दाएँ हाथ की हथेली बाएँ हाथ की हथेली में रखी हुई नाभि के नीचे सिमटे हुए पाँवों पर दिखाई जाती है।

आसनों का वर्णन योग सम्बन्धी ग्रंथों में विस्तारपूर्वक मिलता है। ८४ आसनों में से कूर्मासन, पद्मासन, भद्रासन, उत्कुटिकासन और मकरासन अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रतिमाओं में कभी कभी बैठक में कूर्म, मकर अथवा पद्म के स्वरूपों को प्रदर्शित करने के लिये कूर्मासन, मकरासन और पद्मासन बना दिया करते हैं। परंतु ऐसा करना एक प्रकार की भूल सी है। क्योंकि आसनों में पाँवों और हाथों को विशेष रूप से दिखाया जाता है और अंगों की विशेष आकृतियाँ ही आसनों के लक्षण हैं। उस के ऊपर दोनों पादतलों को एक के ऊपर एक किए हुए बैठना पद्मासन है। आलती पालती मार कर एड़ियों से गुदा को दबाकर बैठना कूर्मासन है। ऐसे ही अन्य आसन हैं जिनका लेख के विस्तार के भय से वर्णन नहीं किया जाता। अलीठासन मृगया करते समय का एक विशेष आसन है। इसमें दाहिना घुटना आगे बढ़ता हुआ और बायाँ पीछे को फैला हुआ दिखाया जाता है। शिव को त्रिपुरान्तक प्रतिमा में यह आसन दिखाया जाता है। आसन शब्द "पीठ" के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अनन्तासन तिखूँटी बैठक, सिंहासन समकोण, विमलासन छखूँटी, योगासन अठपहलू और पद्मासन की गोल बैठक होती है। अनन्तासन विनोद, उत्सवादि देखने के समय, सिंहासन स्नान के समय, योगासन आवाहन, पद्मासन अर्चन और विमलासन भोग भेंट करने के समय काम में लाने चाहिएँ, ऐसा सुप्रभेदागम में वर्णन किया हुआ है। प्रतिमाओं का शृंगार विविध प्रकार से किया जाता है। उनको सादे तथा रंगीन सूती और रेशमी वस्त्र पहनाते हैं। मृगचर्म और बाघम्बर भी धारण कराते हैं। परंतु बाघम्बर धारण कराने के पूर्व प्रतिमा को सूती या रेशमी वस्त्र पहना दिया जाता है। मृगचर्म ओढ़ाने की एक शैली उपवीत शैली कहलाती है। इस शैली से जनेऊ के समान चर्म बाएँ कंधे पर से होता हुआ दाहिने हाथ के नीचे से निकल कर बाएँ कंधे के ऊपर आता है और मृग का

सिर सामने धोती के आगे लटका रहता है। देवी और देवताओं की प्रतिमाओं में यज्ञोपवीत भी बनाया जाता है। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें यज्ञोपवीत नहीं प्रदर्शित किया हुआ है। इससे कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि मूर्तियों में यज्ञोपवीत लगाने की शैली गुप्तों के समय से चली है। प्रतिमाओं के गले में हार, भुजा में केयूर, हाथ की कलाई में कंकण, वक्षस्थल और उदर की संधि में उदरबन्ध, उसके नीचे कटिबन्ध और देवियों की प्रतिमाओं में कुचबन्ध पहनाते हैं। शंकर का एक विशेष आभरण है जिसे "भुजंग वलय" कहते हैं। कानों का आभरण कुंडल कहलता है; परंतु उसके कई भेद हैं। यथा—पत्रकुंडल, नक्रकुंडल, अथवा मकरकुंडल, शंखपत्रकुंडल, रत्नकुंडल, सर्पकुंडल। पहले शंख से कानों के आभरण बनाए जाते थे जो शंखपत्र कहलाते थे। शेष नक्रादिकुंडल उन प्राणियों की आकृति को लिए हुए होने से प्रसिद्ध हुए। रत्नकुंडल गोल बहुमूल्य रत्नों से युक्त होता था। श्रीवत्स और वैजयन्ती विष्णु के विशेष आभरण हैं। श्रीवत्स विष्णु की छाती की दाहिनी ओर त्रिकोण से अथवा चार दल के पुष्प से प्रदर्शित करते हैं। वैजयन्ती एक माला है जिसमें हीरे, मोती, मरकत, पद्मराग और नीलमणि लगते हैं। ये पाँचो रत्न पृथ्वी आदि पंच तत्वों के द्योतक हैं।

सिर के प्रसाधन को मौलि कहते हैं। इसके जटा मुकुट, किरीट मुकुट, करंड मुकुट, शिरस्त्रक, कुंतल, केशबन्ध, धम्मिल, अलक चूडक आदि नाना भेद हैं। जटा मुकुट ब्रह्मा और रुद्र के तथा मनोन्मनी देवी के लिये निर्देश किया गया है। किरीट मुकुट केवल विष्णु-नारायण ही धारण करते हैं। लौकिक मनुष्य, सार्वभौम चक्रवर्ती और अधिराज * किरीट धारण कर सकते हैं। और

---

* चतुःसमुद्रपर्यन्तं पृथिवीं यः प्रपालयेत्।
चक्रवर्ती समाख्यातस्सप्तराज्यं प्रपालयेत्॥

सब देवी देवता करंड मुकुट धारण करते हैं। (करंडो वंशादिकृत भांडभेद:) करंड एक प्रकार की बाँस की टोकरी सी होती है। यह न तो अधिक लम्बी चौड़ी होती है, न अधिक ऊँची। यह वेष वस्तुत: अधीनता का सूचक है और इसे "अधिराज" भी धारण करते हैं। केश-बँधाई सिर के बालों को सुसज्जित करने के प्रकार हैं। केशबंध सरस्वती के और अधिराजों की रानियों के, कुंतल लक्ष्मी के और नरेन्द्र तथा अधिराज की रानियों के भी होते हैं। शिरस्त्रक राजाओं के पार्ष्णिकों अर्थात सेनापति (Generals) के होता है और वह आधुनिक पगड़ी से बहुत मिलता जुलता है। मांडलिकों की स्त्रियाँ अपने बाल एक गाँठ के स्वरूप में जिसे "धमिल्ल" कहते हैं, रखती हैं। वे स्त्रियाँ जो राजा के आगे दीपिकाएँ (मशाल) लिए लिए चलती हैं तथा राजा के गात्र-रक्षकों (वे पुरुष जो तलवार, ढाल बाँधे चलते हैं) की स्त्रियाँ "अलक चूडक" शैली से बालों को बाँधे रखती हैं। बालों के बाँधने के उपकरण पुष्पपट्ट, पत्रपट्ट तथा रत्नपट्ट कहलाते हैं।

छन्नवीर एक चपटा आभरण होता है जो मुकुट पर बाँधा जाता है अथवा गले में बँधा हुआ छाती पर लटकता रहता है।

प्रतिमाओं में एक और बात दिखाई जाती है जिसे शिरश्चक्र अथवा प्रभामंडल कहते हैं। यह कमलाकार अथवा चक्राकार होता है। इसका व्यास ११ अंगुल होना चाहिए और सिर से इसकी दूरी व्यास की तिहाई लम्बाई की होनी चाहिए। इसे एक शलाका से, जिसकी मोटाई व्यास के सातवें भाग की होती है, प्रतिमा के सिर के पीछे से लगा देते हैं और वह पुष्पों से छिपा रहता है। प्रभामंडल

अधिराजस्समाख्यातस्त्रिराज्यं यस्तु पालयेत् ।
नरेन्द्रस्तु विज्ञेयस्त्वन्येपि बहवो मता: ॥

आशय—जिसका राज्य चारों समुद्रों तक हो, वह "चक्रवर्ती" कहलाता है; और जिसका राज्य सात राज्यों (प्रदेशों) पर हो, उसे "अधिराज" कहते हैं; और जिसका राज्य तीन राज्यों (प्रदेशों) पर हो, उसे "नरेन्द्र" कहते हैं ।

से यत्किंचित् साम्य रखनेवाली दूसरी वस्तु प्रभावली है। यह उन प्रकाश की किरणों की द्योतक है जो देवता के शरीर के चारों ओर निकली रहती हैं। इसे नाना रत्न जटित आभरण द्वारा प्रदर्शित करते हैं; और कभी कभी उसमें देवताओं के मुख्य चिह्न (जैसे विष्णु के शंख, चक्र) भी दिखा देते हैं। कहीं कहीं विष्णु की प्रतिमाओं में प्रभावली में विष्णु के दस अवतार भी दिखाए हुए मिलते हैं।

अब प्रतिमाओं में परस्पर भागों के परिमाणों का संक्षिप्त वर्णन लिखते हैं। प्राचीन मान-विभाग इस प्रकार है—आठ परमाणुओं का एक रथरेणु; आठ रथरेणुओं का एक रोमाग्र; आठ रोमाग्रों की एक लिक्षा (अथवा लिख्या); आठ लिक्षाओं का एक यूक; आठ यूकों का एक यव; आठ यवों का एक उत्तम मानांगुल; सात यवों का एक मध्यम मानांगुल और छः यवों का एक अधम मानांगुल होता है। चौबीस अंगुल या मानांगुलों का एक किष्कु, पचीस मानांगुलों का एक प्राजापत्य, छब्बीस मानांगुलों का एक धनुर्ग्रह, सत्ताइस मानांगुलों की एक धनुर्मुष्टी और चार धनुर्मुष्टियों का एक दंड होता है। दंड की पट्टी अधिक लम्बाई चौड़ाई के नापने में काम आती है। पुरुष के दक्षिण हस्त की मध्यम उंगली के मध्यम पर्व के विस्तार को मात्रांगुल कहते हैं। यह मात्रांगुल प्रायः उस पुरुष की उँगली का होता है जो मंदिर बनवाता है अथवा बनाता है। अंगुल का एक दूसरा परिमाण भी है और वह यह कि प्रतिमा के शरीर की सारी लम्बाई के १२४, १२० अथवा ११६ सम भाग कर लेते हैं और इस प्रकार प्राप्त हुए प्रत्येक भाग को देहलब्ध अंगुल अथवा देहांगुल कहते हैं। शरीर की लम्बाई को "मान," चौड़ाई को "प्रमाण," मोटाई को "उन्मान," कक्षा की लम्बाई को "परिमाण," बीच की लम्बाई (जैसे दोनों पाँवों के बीच की खाली जगह) को "उपमान" और सूत्र लटकाकर प्राप्त हुई लम्बाई को "लम्बमान" कहते हैं। आयाम, आयत, दीर्घ और "मान"

एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार विस्तार, तार, व्यास, विशाल, विष्कंभ और "प्रमाण" भी हैं। ऐसे ही बहल, नीव्र, घन, तुंग, उन्नत, उदय, उत्सेध, उच्च, निष्क्रय, निष्कृति, निर्गम, निर्गति और "उन्मान" भी हैं। मार्ग, प्रवेशन, नत, परिणाह, नाह, वृति, आवृत और "परिमाण" भी एकार्थ-वाची हैं। ऐसे ही निवृत, विवर, अन्तर और "उपमान" भी हैं। इसी तरह सूत्र, लंबन, उन्मित, और "लंबमान" भी हैं। देहांगुल के अति-रिक्त नापने में निम्नलिखित पट्टी भी काम में आती है—

अंगुष्ठप्रदेशिनीभ्यां मितं प्रादेशं। अंगुष्ठमध्यमाभ्यां मितं।
तालमंगुष्ठानामिकाभ्यां मितं वितस्तिरंगुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मितं गोकर्णम् ॥

अँगूठे और अँगूठे के पास की उँगली को फैलाने से जो लंबाई होती है, उसे "प्रादेश" कहते हैं। ऐसे ही अँगूठे और बीच की उँगली की लम्बाई "ताल," अँगूठे और अनामिका की लम्बाई "वितस्ति" तथा अँगूठे और सब से छोटी उँगली की लम्बाई "गोकर्ण" कहलाती है।

अब देवताओं की प्रतिमाओं का ताल-विधान लिखते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रतिमाएँ उत्तम दश ताल (१२४ देहांगुल) की बनाई जाती हैं। श्रीदेवी, भूमिदेवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्तमातृका उषा और ज्येष्ठा की मध्यम दशताल (१२० देहांगुल) की, इन्द्र, लोकपाल, चन्द्र, सूर्य, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट वसु, अश्विनी देव, भृगु, मार्कण्डेय, गरुड़, शेष, दुर्गा, गुह, सप्तर्षि, गुरु, आर्या, चंडेश और क्षेत्रपालकों की अधम दश ताल (११६ देहांगुल) की, कुबेर और नवग्रहादि की नवार्ध ताल की, दैत्येश, यक्षेश (कुबेर) उरगेश, सिद्ध, गंधर्व, चारण, विद्येश और शिव की अष्टमूर्ति की उत्तम नव ताल की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। ऐसे पुरुषों की जो देवताओं के समान हैं, प्रतिमाएँ त्र्यांगुल नवताल की बनाई जाती हैं। राक्षसों, असुरों, यक्षों, अप्सराओं, मरुद्गणों और अष्टमूर्ति की नाप नवताल की,

मनुष्यों की अष्टताल की, वेतालों और प्रेतों की सप्तताल की, प्रेतों की षटताल की भी, कुब्जा और विघ्नेश्वर की पंचताल की, वामन अर्थात् छोटे पुरुष और बालकों की चार ताल की, भूत और किन्नरों की तीन ताल की, कूष्मांडों (गणदेवता का भेद) की दो ताल की, और कबन्धों (राहु आदि) की एक ताल की होती है ।

प्रतिमाओं की उत्तम दश ताल विधि बड़ी विस्तृत और गहन है और बिना कई एक चित्र दिए उसका ठीक ठीक बोध कराना कठिन है; अतएव यदि संभव हुआ तो हम कभी उस विषय पर एक अलग लेख ही प्रकाशित करेंगे। संप्रति पाठकों को मुख्य मुख्य देवताओं की प्रतिमाओं का परिचय कराने का यत्न किया जाता है ।

गणपति

गणपति को विनायक, विघ्नराज, द्वैमातुर, गणाधिप, एकदंत, शूर्पकर्ण, गुहाग्रज, हेरंब, लंबोदर तथा गजानन कहते हैं । लिंग पुराण में ऐसा वर्णन है कि असुर और राक्षस यज्ञादि किया किया करते थे और उन्होंने महेश्वर से अनेक वरदान प्राप्त किए। परंतु वरदानों को प्राप्त कर वे उद्धत हो देवताओं से युद्ध करने लगे, जिससे इन्द्रादि दु:खी हो महादेव के पास पहुँचे और उनसे एक ऐसे देव की, जो "विघ्नेश्वर" हो अर्थात् अपने विघ्न मिटा सके और दैत्यों में विघ्न उत्पन्न कर सके, उत्पत्ति करने की प्रार्थना की। तदनन्तर शिव ने प्रसन्न हो अपना अंश पार्वती द्वारा "विघ्नराज" गणेशजी के स्वरूप में प्रकट किया। शिवपुराण में लिखा है कि श्वेत कल्प में जया और विजया के कहने से पार्वती ने गणेशजी को उत्पन्न किया और उन्हें द्वारपाल बना दिया। एक बार गणेशजी ने महादेवजी को अंत:पुर में प्रवेश करने से रोका और उनका खूब सामना किया। परिणाम यह हुआ कि महादेव जी ने उनका शिर काट डाला और अंत में गज का सिर लगा उन्हें

जीवित किया; इसलिये वे "गजानन" कहलाए। शिव ने उनकी वीरता से प्रसन्न हो उन्हें अपने गणों का पति बनाया जिससे उनका नाम "गणपति" प्रसिद्ध हुआ। भिन्न भिन्न पुराणों में भिन्न भिन्न वरदान मिलेने से कोई विश्वसनीय उत्पत्ति नहीं लिखी जा सकती। ऐतरेय ब्राह्मण (१–२१) से पता लगता है कि गणपति, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही के पर्याय हैं। गणपति विद्या के देवता हैं। जब व्यासजी ने महाभारत ग्रंथ की रचना की थी, तब लेखक गणेशजी ही बने थे, यह लोक-प्रसिद्ध किंवदन्ती है। गणपति सिद्धि और बुद्धि के पति तथा क्षेम और लाभ के पिता हैं।

विघ्नेश्वर की प्रतिमा खड़ी हुई अथवा पद्मासन धारण करके बैठी हुई अथवा चूहे पर बैठी हुई अथवा कभी कभी सिंह पर बैठी हुई बनाई जाती है। यदि गणेशजी खड़े हुए दिखाए गए हों, तो उनका शरीर समभंग का, अन्यथा द्विभंग अथवा त्रिभंग शैली का होना चाहिए। गणेशजी का सूँड बाईं ओर को मुड़ा हुआ दिखाया जाता है; दाहिनी ओर को मुड़ा हुआ बहुत ही कम प्रतिमाओं में मिलता है। विघ्नेश्वर के दो ही आँखें दिखाई जाती हैं, यद्यपि आगमों में तीन नेत्रों के दिखाए जाने का भी वर्णन मिलता है। इस प्रतिमा के ४, ६, ८, १० अथवा १६ भुजाएँ बनाई जा सकती हैं, परंतु प्रायः ४ ही भुजाएँ बनाते हैं। लम्बोदर का पेट खूब बड़ा बनाना चाहिए। कहते हैं कि विष्णु और शिव ने गणेशजी को खाने को बहुत रोटियाँ दी थीं जिससे उनका पेट बहुत फूल गया। इनकी छाती पर यज्ञोपवीत के स्वरूप में एक सर्प डाल देना चाहिए। इसी प्रकार मेखला के स्थान पर भी एक सर्प स्थापित कर देना चाहिए। कहते हैं कि एक बार भक्तों ने बहुत मोदक भेंट किए, जिन्हें विघ्नेश्वर ने अपने लम्बे चौड़े पेट में जमा कर लिया और चूहे पर सवार हो घर को रवाना हुए। चूहा बेचारा बहुत दबा हुआ था। उसने मार्ग में एक सर्प को देखा और घबराहट में

उसने गणेशजी को पटक दिया। उनका पेट फूट गया। तदनन्तर उन्होंने पेट से निकल कर फैले हुए पदार्थों को कठिनता से संग्रह किया और उसी साँप को पकड़ कर मेखला के स्वरूप में बाँध लिया।

अब गणपति के अन्य भिन्न भिन्न स्वरूपों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। बाल गणपति की प्रतिमा नवजात बालक के समान, अम्बिका के अंक में निवेशित, अतिरक्त, बालसूर्य-प्रभाकार, गजमुख वाली, रत्नभूषित और चतुर्भुज वाली बनानी चाहिए। चारों हाथों में क्रमशः केला, आम, पनस (कटहर) और गन्ने का टुकड़ा तथा सूँड में कपित्थ (कैथ) धारण कराना चाहिए।

तरुण गणपति की प्रतिमा अरुणाभ होता है। उसमें पाश, अंकुश, कपित्थ, जम्बूफल, तिल, वेणु (बाँस की लकड़ी) प्रदर्शित की जाती है। भक्त विघ्नेश की प्रतिमा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान कान्ति-वाली होती है। उसमें नारियल, आम, कदली, गुड़ और पायस (दूध में संस्कार किए हुए चावल) प्रदर्शित किए जाते हैं।

वीर विघ्नेश्वर की प्रतिमा १६ भुजावाली होती है। उसका रंग लाल होता है और भुजाओं में वेताल, शक्ति, धनुष, बाण, ढाल, तलवार, खट्वांग, मुद्गर, गदा, अंकुश, नाग, पाश, शूल, कुन्त, परशु और ध्वजा धारण कराई जाती है।

शक्ति गणेश संज्ञा में लक्ष्मी गणपति, उच्छिष्ट गणपति, महा गणपति, ऊर्ध्व गणपति तथा पिंगल गणति का समावेश हो जाता है।

लक्ष्मी गणपति के आठ भुजाएँ होती हैं, जिनमें क्रमशः शुक, बीज-पूर (बिजौरा), कमल, माणिक्य, कुंभ, अंकुश, पाश, कल्पलता, बाण-कलिका (बाण-पुष्प विशेष) पधराई जाती हैं। यह प्रतिमा गौर रंग की होनी चाहिए और सूँड में से जल निकलता हुआ दिखलाना चाहिए। यह वर्णन अघोर-शिवाचार्य ने क्रिया-क्रम द्योति में दिया है। परंतु मन्त्र-

महोदधि के अनुसार लक्ष्मी गणपति के तीन नेत्र, चार भुजाएँ होनी चाहिएँ, जिनमें से प्रथम दो में दन्त और चक्र, तीसरी अभय मुद्रा युक्त और चौथी कमलहस्ता लक्ष्मी को आलिंगन किए हुए बनानी चाहिए।

उच्छिष्ट गणपति की प्रतिमा के विषय में भी इसी प्रकार दो भिन्न विचार हैं। अघोरशिवाचार्य का मत है कि इस प्रतिमा की भुजाओं में कमल, दाड़िम, वीणा, शालिपुंज और अक्षमाला प्रदर्शित की जानी चाहिए। परंतु मंत्रमहार्णव के अनुसार इसमें बाण, धनुष, पाश और अंकुश होने चाहिएँ और गणेशजी को पद्मासनस्थ कर समीप में एक नग्न देवी (विघ्नेश्वरी) इस प्रकार दिखानी चाहिए कि मानों वे उससे रतिक्रिया की चेष्टा कर रहे हों। उत्तम कामिकागम में भी इससे मिलता जुलता वर्णन मिलता है।

महागणपति के दश भुजाएँ होती हैं जिनमें क्रमशः कमल, बीजपूर, गदा, उन्हीं का टूटा दाँत, गन्ना, बाण, मणिकुंभ, शालि और पाश प्रदर्शित होने चाहिएँ। इस प्रतिमा का रंग रक्त होना चाहिए और अंक में कमलहस्ता श्वेतवर्णा शक्ति देवी पधरानी चाहिए।

ऊर्ध्व गणपति की पाँच भुजाओं में क्रमशः कल्हार पुष्प, शालि, इक्षु, चाप, बाण और दन्त होना चाहिए। एक भुजा से वे शक्ति का कटि से ऊपर आलिंगन करते हुए दिखाए जाने चाहिएँ। गणपति का वर्ण कनकोज्वल और शक्ति का विद्युत्प्रभ होना चाहिए।

पिंगल गणपति पका आम, कल्पमंजरी, ईख, तिल, मोदक और परशु धारण किए हुए तथा लक्ष्मी को साथ में लिए होना चाहिए।

शक्ति गणेश के विषय में भी भिन्न मत हैं।

आलिङ्ग्य देवीं हरितां निषण्णां परस्परस्पृष्टकटीनिवेशाम्।
सन्ध्यारुणं पाशसृणिं वहन्तं भयापहं शक्तिगणेशमीडे॥

(क्रिया-क्रमद्योती)

विषाणाङ्कुशावक्षसूत्रं च पाशं
दधानं करैर्मोदकं पुष्करेण ।
स्वपत्न्या युतं हेमभूषाम्बराढ्यं
गणेशं समुद्यद्दिनेशाभमीडे ॥

(मन्त्रमहार्णवे)

शक्ति गणेश की प्रतिमा पद्मासन लगाए बनानी चाहिए और उन्हें शक्ति देवी को (जिसका वर्ण हरा होना चाहिए) कटि के समीप आलिङ्गन करते हुए दिखाना चाहिए। गणेश जी के और देवी के कटि से अधो भाग संयुक्त नहीं दिखाने चाहिएँ। गणेश जी का रंग अस्त होते हुए सूर्य के समान रक्त और आकृति भयावह होनी चाहिए। उनके हाथों में पाश और वज्र पधराने चाहिएँ। अन्यत्र ऐसा वर्णन है कि इस प्रतिमा को दंत, अंकुश, पाश और अक्षमाला हाथों में तथा मोदक सूँड में धारण किए हुए बनाना चाहिए और उनकी पत्नी (शक्ति) को उत्तमोत्तम आभरणों और वस्त्रों से समलंकृत कर समीप पधराना चाहिए। हेरम्ब की प्रतिमा बड़ी विलक्षण है। इसमें गजानन के पाँच मुख बनाने चाहिएँ—चार तो चारों दिशाओं के अभिमुख और पाँचवाँ इन चारों के ऊपर आकाश की ओर दृष्टि किए हुए। हेरम्ब को कनक रुचिर वर्ण का और सिंह पर बैठा हुआ बनाना चाहिए। उनकी भुजाओं में पाश, दन्त, अक्षमाला, परशु, तीन सिरवाला मुद्गर और मोदक दिखाना चाहिए। शेष चार हाथ अभय और वरद स्वरूप में बनाने चाहिएँ।

प्रसन्न गणेश की मूर्त्ति पद्मासन पर अभंग अथवा समभंग स्वरूप में खड़ी हुई, उदय होते हुए सूर्य की प्रतिभा के समान, दो भुजाओं में अंकुश और पाश धारण किए हुए और शेष दो भुजाएँ वरद और अभय स्वरूप सूचक बनानी चाहिएँ। प्रसन्न गणेश के वस्त्र रक्त होने चाहिएँ। प्रसन्न गणेश की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें प्रायः यह देखा

गया है कि दो भुजाओं को वरद और अभय स्वरूप दिखाने के स्थान में उन्हें दन्त और मोदक लिए हुए बना देते हैं और मोदक को ऐसे ढंग से दिखाते हैं कि मानों गणेश जी उसे सूँड से ग्रहण कर मुख में रखना चाहते हैं।

ध्वज गणपति घोर मुखवाले, चतुर्भुज, पुस्तक, अक्षमाल, दंड और कमंडलु धारण किए हुए होने चाहिएँ।

उन्मत्तोच्छिष्ट गणपति की प्रतिमा पद्मासन, लाल वर्ण की, तीन नेत्र तथा चतुर्भुज-वाली, पाश, अंकुश, मोदक का पात्र और दन्त ग्रहण किए हुए होनी चाहिए।

विघ्नराज गणपति की प्रतिमा चूहे पर विराजमान, पाश और अंकुश धारण किए हुए तथा आम को चूसते हुए रक्तवर्ण की बनानी चाहिए। भुवनेश गणपति की प्रतिमा कमनीय गौर वर्ण की, अष्टभुज, शंख, इक्षु, चाप, कुसुम, बाण, दन्त, पाश, अंकुश, केलम (शालि) मंजरी धारण किए हुए होनी चाहिए।

हरिद्रा गणेश की प्रतिमा कनकासनस्थ, हरिद्र खंड (हल्दी) के समान वर्णवाली, तीन नेत्रवाली, पीतांशुक धारण किए हुए, अपनी चारों भुजाओं में क्रमशः पाश, अंकुश, मोदक और दन्त लिए हुए बनानी चाहिए। हरिद्रा गणेश को रात्रिगणपति भी कहते हैं। नृत्तगणपति की प्रतिमा आठ भुजावाली होती है जिनमें से सात में क्रमशः पाश, अंकुश, पूप (पूड़े), कुठार, दन्त, वलय (कड़ा), अङ्गुलीय (अँगूठी) होती है और आठवीं खाली लटकती रहती है, मानों मात्र-विक्षेप में सहायक हों। नृत्तगणपति का वर्ण पीतप्रभ होना चाहिए। यह मूर्ति पद्मासन बैठी हुई होती है और इसका बायाँ पाँव कुछ मुड़ा हुआ परंतु पद्मासन से जुड़ा हुआ और दाहिना पाँव कुछ मुड़ा हुआ और ऊँचा उठा हुआ रहता है। यद्यपि ग्रंथों में नृत्तगणपति का वर्णन ऐसा मिलता है, तो

भी जो प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें आठ के स्थान में केवल चार ही भुजाएँ दिखाई हुई हैं।

भालचन्द्र उस गणपति की प्रतिमा को कहते हैं जिसके सिर पर चन्द्र दिखाया गया हो। ब्रह्मांड पुराण में लिखा है कि दर्भी (?) के शाप से चन्द्र कान्तिहीन होने लगा। यह देख गणेश जी ने उसे तिलक के समान अपने मस्तक पर लगा लिया और उसकी प्रभा को नष्ट होने से बचा लिया।

शूर्पकर्ण गणेश जी का एक नाम है। कहते हैं कि एक बार ऋषियों ने अग्नि को शाप दिया जिसके कारण वह बुझने लगी और शक्तिहीन हो गई। गणेश जी को उस पर दया आई और अपने कानों से शूर्प (सूप) की तरह पवन कर वे उसे सचेत करने लगे; अतः उनका नाम शूर्पकर्ण प्रसिद्ध हो गया। इस प्रतिमा का विशेष वृत्तान्त अप्राप्य है।

गणेश जी शिव जी के आकाशिक भाग हैं; अतः उनका पेट आकाश के समान बहुत लंबा-चौड़ा, अनन्त मोदकों अर्थात् वस्तुओं को ग्रहण करने योग्य बनाया जाता है। पद्म पुराण में मोदक को महा-बुद्धि का संकेत माना है। हम पहले लिख आए हैं कि गणेशजी सिद्धि और बुद्धि के पति तथा क्षेम और लाभ के पिता हैं।

शिवमहापुराण में लिखा है कि जब गणेश और सुब्रह्मण्य (स्वामिकार्तिक) बड़े हो गए, तब एक दिन शिव और पार्वती परस्पर विचार करने लगे कि इनमें से किसका विवाह पहले करें। उन्होंने यह निर्णय किया कि इन दोनों में से जो सब से पहले पृथ्वी की परिक्रमा कर आवेगा, उसका विवाह पहले किया जायगा। निदान सुब्रह्मण्य अपनी मयूर की सवारी पर चढ़ वेग से रवाना हो गए; परंतु गणेश जी कुछ वेपरवाह से हो रहे। ज्यों ही षडानन नजरों से गायब हो गए, त्यों ही गणेशजी ने अपने माता पिता के समीप आ उनकी सात बार प्रदक्षिणा कर डाली और एक वैदिक प्रमाण बोलते हुए कहा कि जो

पितरों का सात बार प्रदक्षिणा करता है, वह पृथ्वी की प्रदक्षिणा का फल पाता है। पितर अपने पुत्र की चमत्कृत बुद्धि से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका विवाह बुद्धि और सिद्धि से कर दिया जिनसे क्रमशः क्षेम और लाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुए। वस्तुतः यह कथन अलंकार मात्र है।

आदित्य और नवग्रह

आदित्यों की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न वर्णन मिलते हैं। इनकी संख्या कहीं सात, कहीं आठ और कहीं बारह बताई गई है। जहाँ पर १२ हैं, वहाँ वे वर्ष के १२ महीनों के द्योतक समझे गए हैं। पुराणों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि ये सौर जगत् के देवता हैं। अदिति के पुत्र होने से इनका नाम "आदित्य" पड़ा है। आदित्य का अर्थ 'सूर्य' लोक-प्रसिद्ध है। मग*जाति के ब्राह्मण मुख्य रूप से सूर्य के उपासक हैं। ये लोग उत्तर भारत में बहुतायत से मिलते हैं। अतः यहाँ पर सूर्य के मन्दिरों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु तंजोर प्रान्त के सूर्यनाद कोहल ग्राम में भी सूर्य का एक प्राचीन मन्दिर मिलता है जिसमें "सूर्य" की मुख्य प्रतिमा है और साथ ही में नवग्रहों की भी है। यह मन्दिर ई० सन् १०६० से १११८ के बीच में निर्माण किया गया था और "कुलोत्तुङ्गचोल मार्तण्डालय" नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। नवग्रहों अर्थात् सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, शुक्र, बृहस्पति,

---

* भविष्यत् पुराण में लिखा है कि श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ट रोग हो गया था जिसकी निवृत्ति सूर्य की उपासना से हुई। इस पर राजा सांब ने सूर्य का मंदिर बनाकर उसकी मूर्त्ति स्थापित करानी चाही, परंतु ब्राह्मणों ने यह कह कर कि मूर्त्तिपूजा से प्राप्त द्रव्य से ब्रह्मक्रिया नहीं हो सकती, उस काम को स्वीकार नहीं किया। तब शाकद्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाकर उनको उक्त मूर्त्ति के पुजारी बनाया गया।

एवमुक्तस्तु सांबेन नारदः प्रत्युवाचतं।
न द्विजाः परिगृह्णन्ति देवस्य स्वीकृतं धनं॥ ४॥
देवचर्यागतैर्द्रव्यैः क्रिया ब्राह्मी न विद्यते॥ ५॥

भविष्य पुराण, ब्रह्म पर्व, अध्याय १३।

शनि, राहु और केतु की प्रतिमाएँ प्राय: दक्षिण भारत के सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध शङ्कर के देवालयों में मिलती हैं। ये प्रतिमाएँ करीब तीन फुट ऊँचे चबूतरे पर एक अलग मंडप में पधराई जाती हैं और उनमें से कोई आमने सामने नहीं रखी जाती। कहते हैं कि मन्दिर के निर्माण के समय जिस क्रम से ये नवग्रह होते हैं, उसी क्रम से इनकी प्रतिमाएँ भी उसमें पधराई जाती हैं।

सूर्य का रथ एक चक्रवाला होता है और उसमें सात घोड़े जुते हुए होते हैं। सूर्य के दोनों हाथों में एक एक कमल होता है और छाती पर कवच। उसके बाल सुन्दर, अकुंचित (बिना मुड़े) दिखाए जाते हैं और एक प्रभामंडल, सुन्दर वस्त्र, स्वर्ण रत्नों से विभूषित अंग बनाए जाते हैं। सूर्य के दक्षिण भाग में "निक्षुभा" और वाम में "राज्ञी" सर्वाभरण संयुक्त तथा केश हारादि से समुज्वल पधराई जाती हैं। ऐसे सूर्य के रथ को "मकरध्वज" कहते हैं। सूर्य के मुकुट भी होना चाहिए। उसके समीप दंडनायक और स्कन्ध बनाने चाहिएँ। ये पुरुषाकृति मूर्त्तियाँ सूर्य के सामने पधरानी चाहिएँ। मित्र (सूर्य) के दो अथवा चार भुजाएँ होती हैं। सूर्य के द्वारपाल 'दंड' और 'पिंगल' हैं और उनके हाथों में तलवार होती है। भविष्यत् पुराण में लिखा है कि सूर्य असुरों को जलाने लगा; अत: उन्होंने मिलकर उस पर आक्रमण किया। देवताओं ने ऐसी स्थिति में सूर्य को सहायता दी और स्कन्द को वाम और अग्नि को उसके दक्षिण भाग में आरोपित किया। स्कन्द संसार में दुष्टों का दमन करनेवाला है। अत: उसे "दंडनायक" कहते हैं और अग्नि अपने रक्त वर्ण के कारण "पिंगल" कहलाती है। उसी पुराण में सूर्य के परिचारकों के नाम राज्ञ और स्रोष रखे हैं और इनको स्कन्द और शिव का रूपान्तर बतलाया है। कार्तिकेय अथवा स्कन्द का ही नाम राज्ञ है। पारसियों के ग्रन्थ आवेस्ता में सूर्य के परिकर का नाम Sraoshavarega स्रओषवरेघा अथवा स्रोष है। यह वस्तुत: वही

अग्नि परिकर है। भविष्यत् पुराण में ऐसा भी वर्णन है कि सूर्य के अगल बगल अश्विनी कुमारों को खड़ा कर देना चाहिए; अथवा सूर्य की दाहिनी ओर दवात कलम लिए हुए "पिंगल" को और बाईं ओर दंड लिए हुए दंडी (स्कन्द) को स्थापित करना चाहिए। राज्ञी और निक्षुभा देवियाँ पवन और पृथ्वी की बोधक हैं।

सूर्य के मन्दिर के चार द्वारों के द्वारपालों के नाम निम्नलिखित हैं—

प्रथम द्वार—धर्म और अर्थ।

द्वितीय ,,—गरुड़ और यम।

तृतीय ,,—कुबेर और विनायक।

चतुर्थ ,,—रैवत और डिंडी।

रैवत (रेवंत) सूर्य के पुत्र को और डिंडी शिव को भी कहते हैं।

अंशुमद्भेदागम और सुप्रभेदागम में ऐसा वर्णन है कि सूर्य की प्रतिमा दो हाथवाली बनानी चाहिए और प्रत्येक हाथ में एक एक कमल पधरा कर मुट्ठियाँ कंधे से लगी हुई रखनी चाहिएँ। सूर्य के सिर पर करंड मुकुट और वस्त्र रक्त बनाने चाहिएँ। उसके कानों में कुंडल और छाती पर एक हार होना चाहिए। सूर्य को एक ही रक्त वस्त्र पहनाना चाहिए; परंतु वह ऐसा मनोहर और ऐसा रम्य हो कि उस में से उसके अंग सुव्यक्त हों। सूर्य को यज्ञोपवीत भी पहनाया जाता है। सूर्य को पद्मपीठ पर अथवा सप्ताश्ववाले षट्कोण रथ पर पधराना चाहिए। सूर्य का एक पहिएवाला रथ लँगड़े "अरुण" से हाँका जाता है। सूर्य की दाहिनी ओर 'उषा' और बाईं ओर "प्रत्युषा" खड़ी की जाती है। सूर्य की चार स्त्रियाँ भी बताई जाती हैं जिनके नाम राज्ञी, सुवर्णा, सुवर्चसा और छाया हैं। एक जगह ऐसा भी विधान है कि सूर्य का आधा अंग श्यामा स्त्री का बनाना चाहिए जिस से कदाचित् यह आशय हो कि तेजपुंज सूर्य अंधकार रूपी अर्द्धांङ्गिनी से युक्त है। शिल्परत्न में सूर्य के द्वारपालों के नाम "मंडल" और "पिंगल" दिए हैं और यह

लिखा है कि सूर्य का किरीट पुष्पराग का होना चाहिए। आदित्य की प्रतिमा में इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए कि सिर, नाक, छाती, जंघा, घुटने सीधे (खड़े हुए) प्रदर्शित हों और प्रभामंडल का व्यास किरीट की ऊँचाई से दूना रखना चाहिए। सूर्य की एक हाथ लम्बी मूर्ति सौम्य, दो हाथ लंबी वसुदा और तीन हाथ लंबी क्षेम तथा सुभिक्षप्रद गिनी जाती है।

मत्स्य पुराण के अनुसार सूर्य की प्रतिमा चतुर्भुज तथा मूँछवाली बनानी चाहिए। सूर्य के दो हाथों में तलवार और शूल होना चाहिए। सूर्य का झंडा बाईं ओर रखा जाता है और उस पर सिंह अंकित होता है। सूर्य के एक ओर रेवंत और यम तथा दूसरी ओर दो मनु खड़े दिखाने चाहिएँ। ये चारों सूर्य के पुत्र कहे जाते हैं। द्वादश आदित्यों के नाम निम्न लिखित हैं—

१ धाता, २ मित्र, ३ अर्यमा, ४ रुद्र, ५ वरुण, ६ सूर्य, ७ भग, ८ विवस्वान् ९ पूषा, १० सविता, ११ त्वष्टा और १२ विष्णु।

विश्वकर्म शास्त्र में इन बारहों आदित्यों की प्रतिमाओं के लक्षण दिए हुए हैं। ये सब चतुर्भुज बनाए जाते हैं जिनमें दो हाथों में कमल पधराए जाते हैं और शेष दो हाथों की वस्तुएँ इस प्रकार हैं—

धाता के—कमल की माला और कमंडलु; मित्र के—सोम और शूल; अर्यमा के—चक्र और कौमोदकी; रुद्र के—अक्षमाला और चक्र; वरुण के—चक्र और पाश; सूर्य के—कमंडलु और अक्षमाला; भग के—शूल और चक्र; विवस्वान् के—शूल और माला; पूषा के दोनों हाथों में कमल; सविता के—गदा और चक्र; त्वष्टा के—स्रुक् और होमजकलिका; विष्णु के—चक्र और कमल।

पूषा के चारों हाथों में कमल होते हैं। मित्र के तीन आँखें होती हैं। पारसियों के भी मित्र, अर्यमा और भग देवता सुप्रसिद्ध हैं।

उत्तरी भारत में सूर्य की जो प्रतिमाएँ मिलती हैं, उनके पाँव मोजों से ढके हुए या लम्बे बूट पहने हुए होते हैं।

सोम (चन्द्रमा), मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और रवि (सूर्य्य) तथा राहु और केतु मिल कर नवग्रह कहलाते हैं। नवग्रहों में सूर्य मुख्य ग्रह है। उसकी प्रतिमा का वर्णन कर चुके। अब शेष ग्रहों की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण लिखते हैं। सोम सिंहासना-सीन तथा कुन्द और शंख के समान द्युतिमान्, प्रभामंडल युक्त, द्विभुज और सौम्य मुखवाला बनाना चाहिए। सोम के हाथ में कुमुद होना चाहिए और शरीर पर नाना आभरण तथा हैम यज्ञोपवीत। शिल्परत्न में लिखा है कि चन्द्रमा की प्रतिमा दस श्वेत घोड़ों से खींचे जाते हुए रथ में विराजी हुई बनानी चाहिए और उसके दाहिने हाथ में गदा और बायाँ हाथ वरद अवस्था में दिखाना चाहिए। मत्स्य पुराण में भी ऐसा ही वर्णन है। इतना अधिक है कि चन्द्रमा की दाहिनी और बाईं ओर "कान्ति" और "शोभा" देवियाँ बनानी चाहिएँ और बाईं ओर सिंह के चिह्नवाली पताका रखनी चाहिए। पूर्वकारणागम में केवल एक देवी अर्थात् रोहिणी को ही स्थापित करना लिखा है। चन्द्रमा आसीन अर्थात् बैठा हुआ और खड़ा हुआ भी दिखाया जाता है।

पृथ्वी के पुत्र भौम (मंगल) की प्रतिमाओं के भिन्न भिन्न विधान हैं। शिल्परत्न में लिखा है कि भौम चतुर्भुज, मेष पर सवार, अंगार के समान द्युतिमान् होना चाहिए। इसका एक दक्षिण हस्त अभय अथवा वरद अवस्था में बनाना चाहिए और दूसरा शक्ति लिए हुए; शेष बाएँ हाथ गदा और शूल धारण किए हुए हों। मत्स्य पुराण में लिखा है कि भौम को आठ अश्ववाले कांचन के रथ में विराजमान करना चाहिए।

बुध चंद्रमा का पुत्र है। इसे ग्रहपति भी कहते हैं। इसकी प्रतिमा सिंहासनस्थ, पीत माला सहित भूषाविभूषित होनी चाहिए। बुध के

शरीर का रंग कर्णिकार (कनेर) के पुष्प के समान पीत होना चाहिए और ऐसा ही रंग उसके वस्त्रों का भी होना चाहिए। बुध के चार हाथ होते हैं। दाहिने हाथों में से एक वरद अवस्था में, शेष तीनों में क्रमशः खड्ग, खेटक और गदा प्रदर्शित होती है। यह शिल्परत्न का मत है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर में ऐसा वर्णन है कि बुध की प्रतिमा विष्णु के तुल्य, भौम के जैसे रथ में विराजमान बनानी चाहिए।

बृहस्पति और शुक्र की प्रतिमाएँ चतुर्भुज होती हैं, जिनमें से एक हाथ वरद अवस्था में और शेष तीन कमंडलु, अक्षमाला और दंड धारण किए हुए हों। बृहस्पति का रंग तप्त सुवर्ण सा होना चाहिए। यह वर्णन शिल्परत्न के अनुसार लिखा गया है। विष्णुधर्मोत्तर में बृहस्पति के दो ही हाथों का विधान है और उनमें पुस्तक और अक्ष-माला बतलाई है। उस ग्रन्थ में भृगु के पुत्र शुक्र के भी दो ही हाथों का वर्णन है और उनमें निधि और पुस्तक प्रदर्शित होनी चाहिए। शुक्र के वस्त्रों का रंग श्वेत होना चाहिए और वह अष्टाश्व-वाले दिव्य कांचन रथ में विराजमान किया जाना चाहिए।

शनैश्चर का एवं उसके वस्त्रों का रंग काला होना चाहिए। उसके दो हाथ होते हैं और सिर पर करंड, मुकुट और शरीर पर नाना आभूषण पहनाए जाते हैं। दक्षिण हस्त में दंड होता है और वाम हस्त वरद अवस्था में दिखाया जाता है। शनैश्चर का शरीर (ईषत्पङ्गुरिव स्थाने ईषद्ध्रस्वतनुस्स्मृतः) कुछ छोटा और वह कुछ एक टाँग से लँगड़ाता हुआ सा दिखाना चाहिए। शनैश्चर की प्रतिमा पद्म पीठ पर अथवा आठ घोड़ेवाले लोहे के रथ पर विराजमान होती है। यह वर्णन अंशुमद्भेदागम और विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार है।

राहु की प्रतिमा शिल्परत्न के अनुसार सिंहासनासीन, करालवदन-वाली होनी चाहिए। उसका एक हाथ वरद अवस्था में और शेष तीन खड्ग, खेटक और शूल धारण किए हुए बनाने चाहिएँ। विष्णुधर्मोत्तर

में ऐसा वर्णन है कि राहु की मूर्ति आठ अश्ववाले रौप्य रथ में विराजमान, एक हाथ में कम्बल और पुस्तक लिए हुए और दूसरा हाथ खाली ही रखे हुए बनानी चाहिए।

केतु की प्रतिमा शिल्परत्न के अनुसार धूम्र वर्ण की द्विभुज—एक वरद अवस्था में दूसरी गदा धारण किए—गृध्र (गीध) की पीठ पर सवार, रक्त कुंडल, केयूर, हार और आभरण से समलंकृत की हुई बनानी चाहिए। परंतु विश्वकर्म शास्त्र में ऐसा विधान है कि केतु की प्रतिमा सब तरह से भौम के समान बनानी चाहिए। केवल रथ दस घोड़ोंवाला होना चाहिए।

रूपमंडन में सूर्य को सप्ताश्ववाले रथ पर, सोम को दश अश्ववाले पर, भौम को मेष पर, बुध को सर्पासन पर (या योगासन पर ?), गुरु (बृहस्पति) को हंस पर, शुक्र को भेक (मेंढक) पर, शनि को महिष (भैंसे) पर, राहु को कुंड पर विराजमान करने का विधान है। केतु के नीचे का भाग सर्पाकृति होना चाहिए।

जिन्हें आदित्य एवं नवग्रहों की प्रतिमाओं के विषय में अधिक अनुसंधान करना हो, उन्हें मैसूर के छपे हुए "बोधायन गृह्यसूत्र" में "नवग्रहपूजा विधि" प्रकरण (पृष्ठ १९६ से २०५) भी देख लेना चाहिए। विस्तार-भय से हम अधिक लिखने में असमर्थ हैं।

देवियों की प्रतिमाएँ

यों तो वैष्णव और शैव लक्ष्मी तथा पार्वती की उपासना करते ही हैं, परंतु मुख्य रूप से देवी के उपासक शाक्त हैं। शाक्तों में मंत्रशास्त्र की बहुत चर्चा है। वे लोग यंत्रों की उपासना भी करते हैं। कहते हैं कि दक्षिण भारत के कई प्राचीन और अर्वाचीन मंदिरों में, जो शक्ति पीठालय कहलाते हैं, एक बलि पीठ के समान पीठ होती है; और उन स्थानों में श्रीचक्र खुदा हुआ होता है, जिसका प्रातः सायं विधिवत्

अर्चन किया जाता है। अन्य बहुत से यंत्र सुवर्ण, चाँदी अथवा ताम्र-पत्र पर लिखे जाते हैं और लोग उन्हें आभरण के समान शरीर पर धारण करते हैं। वे समझते हैं कि इनसे शत्रु, व्याधि आदि की निवृत्ति होती है; अतः अवसर विशेष पर उनका पूजन भी करते हैं।

देवी कई स्वरूपों में पूजी जाती है ❀। आयु के अनुसार जब उसका पूजन प्रकल्पित करते हैं, तो उसके निम्नलिखित नाम रखे जाते हैं—

१ वर्ष की संध्या, २ का सरस्वती, ७ की चंडिका, ८ की शाम्भवी, ९ की दुर्गा या बाला, १० की गौरी, १३ की महालक्ष्मी और १६ की ललिता।

देवी के नाम पराक्रमशील कर्मों से भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। जैसे महिषासुर के मारने से महिषासुर-मर्दिनी। ऐसे ही रक्तचामुंडा, शताक्षी, शाकम्भरी, दुर्गादेवी, भ्रामरी आदि नाम पड़े हैं जिनके कारण मार्कण्डेय पुराण के सुप्रसिद्ध देवी माहात्म्य में वर्णन किए हुए हैं। वस्तुतः मुख्य देवियाँ अर्थात् लक्ष्मी, महाकाली और सरस्वती प्रकृति के रज, तम और सत्व गुणों की कल्पित प्रतिमाएँ हैं। सृष्टि की तीन अवस्थाओं के अनुसार भी देवी के नाम रक्खे गए हैं जैसे उत्पत्ति के समय ब्रह्मा पर भी आधिपत्य रखती हुई "महाकाली", प्रलय की स्थिति में "महामारी" और सृष्टि की वर्तमान अवस्था में धनधान्य देने से "लक्ष्मी" और अपहरण करने से "अलक्ष्मी" अथवा "ज्येष्ठा देवी"। सृष्टि की उत्पत्ति के समय देवी का वर्ण काला होता है और उसके महामाया, महाकाली, महामारी, क्षुधा, तृषा, निद्रा, तृष्णा, एकवीरा, कालरात्री और दुरत्यया नाम होते हैं। महालक्ष्मी देवी का मुख्य स्वरूप है। अन्य स्वरुप उसके अधीन रहते हैं। देवी ही

❀ राजपूताने में एक विश्वत (वसंत) माता का मंदिर है जिसमें कोई मूर्ति नहीं है; केवल सिंदूर से बने हुए त्रिशूल को ही विस्वत माता कह कर पूजते हैं।

अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् नीलकंठ, रक्तभानु, श्वेतांग, चन्द्रशेखर, रुद्र, शङ्कर, स्थाणु एवं त्रिलोचन में और स्त्री अर्थात् विद्या, भाषा, स्वर, अक्षर और कामधेनु में विभक्त करती है। देवी सत्व स्वरूप में अक्षमाला, अंकुश, वीणा और पुस्तक धारण किए हुए होती है और उसके महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा, धी और ईश्वरी नाम प्रसिद्ध होते हैं। यह सत्व-स्वरूपा देवी अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् विष्णु, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव और जनार्दन में एवं स्त्री अर्थात् उमा, गौरी, शक्ति, चंडी, सुंदरी, सुभगा और शिवा में विभक्त करती है।

प्रकृति का राजस स्वरुप महालक्ष्मी अथवा लक्ष्मी कहलाता है और मातुलिंग (बिजौरा), गदा, पात्र, खेटक एवं स्त्री या पुरुष का चिह्न धारण किए होता है। यह अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् हिरण्य-गर्भ, ब्रह्मा, विधि, विरंचि और धाता में और स्त्री अर्थात् श्री, पद्मा, कमला और लक्ष्मी में विभक्त करती है। अन्त में ब्रह्मा और सरस्वती, विष्णु और लक्ष्मी, रुद्र और गौरी दाम्पत्य स्वरूप से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, ऐसा पुराणों में वर्णन है। शाक्त महालक्ष्मी को सर्वोपरि देवी मानते हैं।

देवी की प्रतिमा का सर्व साधारण स्वरूप निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया गया है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च सुप्रसन्नेकवक्त्रका ।
दुकूलवसना देवी करण्डमुकुटान्विता ॥
वरदाभयसंयुक्ता पाशाङ्कुशकरान्विता ।
(उत्तरकामिकागमे चतुश्चत्वारिंशत्पटले ।)

भावार्थ—देवी के चार भुजाएँ और तीन नेत्र, चेहरा सुप्रसन्न, पोशाक रेशमी और सिर पर करण्ड मुकुट प्रदर्शित करना चाहिए।

उसकी दो भुजाएँ वरद और अभय अवस्था में और शेष दो पाश और अंकुश को धारण किए हुए हों।

यदि देवी की प्रतिमा किसी पुरुष प्रतिमा के साथ खड़ी की जाय, तो उसके प्राय: दो ही नेत्र और दो ही भुजाएँ बनाते हैं, जिनमें से एक कमल के पुष्प को धारण किए हुए अथवा कटक अवस्था में होती है। स्वतंत्र रूप से भी देवी को दो भुजाएँ बना देते हैं, जिनमें से एक में दर्पण या शुक और दूसरे में नीलोत्पल या एक में शूल और दूसरे में पाश दिखलाते हैं।

जब देवी की छ: भुजाएँ बनाते हैं, तब दो भुजाएँ तो वरद और अभय स्वरूप में और शेष पाश, अंकुश, शंख, चक्र धारण किए हुए दिखाते हैं। कभी कभी देवी को १० भुज और ५ मुखवाली भी बनाते हैं। इस दशा में उसका आसन और आयुध वे ही होते हैं जो १० भुजावाली शिव की मूर्ति के होते हैं।

जब सदाशिव के साथ देवी को दिखाते हैं, तब उसका नाम मनोन्मनी होता है। उसका शरीर द्विभंग अथवा समभंग बनाते हैं। नटराज अथवा शिव की अन्य मूर्तियों के साथ विद्यमान देवी को गौरी कहते हैं। मनोन्मनी और गौरी की प्रतिमाओं में अन्तर नहीं है। उनका स्वरूप काला, गोरा या लाल, जैसा शिल्पकार को रुचे, वैसा ही बना लिया जाता है। सुप्रभेदागम में लिखा है कि देवी को तुंगपीन पयोधरा, श्याम वर्ण, सर्वाभरणभूषिता बनाना चाहिए। पूर्वकारणागम का मत है कि दो भुजाओंवाली खड़ी हुई देवी की संज्ञा "भवानी" होती है।

दुर्गा कृष्ण वर्ण की होती है और उसके तीन नेत्र, तथा चार अथवा इससे भी अधिक भुजाएँ बनाई जाती हैं। वह सौम्य, पीताम्बर-धारिणी, पीन ऊरु जघन और स्तनवाली, करण्ड मुकुटवाली और सर्वाभरणभूषित होनी चाहिए। दुर्गा की मूर्ति पद्मासन, भैंसे

अथवा सिंह पर विराजमान होती है। नागेन्द्र से उसके स्तन बँधे हुए होते हैं और उसे रक्तकंचुकधारिणी बनाना चाहिए। दुर्गा (आदिशक्तेस्समुद्भूता विष्णुप्राणानुजा शुभा—सुप्रभेदागमे) आदि शक्ति से उत्पन्न हुई विष्णु की प्यारी बहिन है। इसकी भुजाओं में शंख, चक्र, शूल, धनुष, बाण, खड्ग, खेटक और पाश प्रदर्शित किए जाते हैं।

दुर्गा के निम्नलिखित भेद हैं—

नीलकंठी, क्षेमंकरी, हरसिद्धि, रुद्रांशा, वनदुर्गा, अग्निदुर्गा, जयदुर्गा, विन्ध्यवासिनी और रिपुमारी।

इनके अतिरिक्त नव दुर्गा—रुद्रचंडा, प्रचंडा, चंडोग्रा, चंडनायिका, चंडा, चंडवती, चंडरूपा, अतिचंडिका और उग्रचंडिका हैं।

नीलकंठी लक्ष्मी और सुखप्रदा है। इसका एक हाथ वरद अवस्था में, शेष, त्रिशूल खेटक और पानपात्र धारण किए हुए होते हैं।

क्षेमंकरी क्षेम और आरोग्य-प्रदायिनी है। इसका एक हाथ वरद अवस्था में, शेष त्रिशूल, पद्म और पानपात्र धारण किए हुए होते हैं।

हरसिद्धि सिद्धिप्रद है। इसके चारों हाथों में क्रमशः कमंडलु, खड्ग, डमरू और पानपात्र होते हैं।

रुद्रांशा दुर्गा श्याम वर्ण की, रक्ताम्बरधारिणी, किरीट रत्नाभरणों से समलंकृत बनानी चाहिए। इसके दो नेत्र होते हैं और चार भुजाओं में शूल, खड्ग, शंख और चक्र पधराए जाते हैं। इसकी सवारी मृगेन्द्र है और इसके आस पास सूर्य और चन्द्र भी बनाने चाहिएँ।

वनदुर्गा का वर्ण नवदुर्गा के समान होता है। यह अपने सात हाथों में शंख, चक्र, खड्ग, खेटक, बाण, धनुष और शूल लिए रहती है और आठवाँ हाथ तर्जनी अवस्था में धारण करती है।

अग्निदुर्गा विद्युत्समप्रभा, सिंहारूढ़ा तथा भीषणा होती है।

इसकी छः भुजाओं में चक्र, खड्ग, खेटक, बाण, पाश और अंकुश होते हैं और शेष दो वरद और तर्जनी अवस्था में। इसके तीन नेत्र होते हैं और मस्तक पर चन्द्रमा धारण करती है। इसके दाईं और बाईं ओर दो सेवक कन्याएँ तलवार और खेटक (ढाल) लिए हुए दिखाई जाती हैं।

जयदुर्गा त्रिनेत्रा, सिंहस्कन्धाधिरूढ़ा तथा मौलि में इन्दुरेखा धारण किए होती है। इसकी चारों भुजाओं में क्रमशः शंख, चक्र, कृपाण और त्रिशूल होते हैं। इसका वर्ण काला होता है।

विन्ध्यवासिनी दुर्गा विद्युत् के समान प्रभावाली, शशिमुखी सुवर्ण के कमल पर विराजमान, दो भुजाओं में शंख, चक्र धारण किए हुए और शेष दो वरद और अभय स्थिति में होते हैं। इसके सिर पर चन्द्रकला और शरीर पर हार, अंगद, कुंडलादि आभरण होते हैं। इसके आस पास इन्द्रादि देवता खड़े होकर इसकी स्तुति करते हुए और समीप में एक खड़ा हुआ सिंह भी दिखाना चाहिए।

रिपुमारिणी दुर्गा—रक्तवर्णा और भयंकरी होती है। उसकी एक भुजा तर्जनी अवस्था में और दूसरी त्रिशूल धारण किए हुए होती है।

महिषासुरमर्दिनी—दश बाहुवाली, जटा मुकुट मंडित, तीन नेत्रवाली, मस्तक पर अर्ध चन्द्र धरे, अलसी के पुष्प के समान वर्णवाली (अर्थात् नीले वर्ण की) पीन उन्नत कुचवाली होती है। उसके नेत्र नीलोत्पल के समान होते हैं और उसके शरीर का मध्य भाग पतला होता है। उसकी प्रतिमा त्रिभंग होती है। उसकी दाहिनी भुजाओं में त्रिशूल, खड्ग, शक्ति, चक्र, अधिज्य, कार्मुक और बाईं भुजाओं में पाश, अंकुश, खेटक, परशु और घंटा होता है। इसके नीचे कटी हुई गरदन का भैंसा दिखाना चाहिए और उसमें से निकला हुआ तथा नाग-पाश से बँधा हुआ एवं खड्ग, खेटक धारण किए हुए दानव होता है। इस दानव के हृदय में देवी का शूल गड़ा हुआ और

मुख में से रुधिर बहता हुआ दिखाना चाहिए। देवी का दक्षिण चरण सिंह की पीठ पर और बाँया महिषासुर को स्पर्श करता हुआ रहता है। यह वर्णन शिल्परत्न के अनुसार दिया है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर में महिषासुरमर्दिनी की संज्ञा चंडिका दी है और उसके स्वरूप का निम्नलिखित वर्णन किया है—यह देवी हेमाभा, सुरूपिणी, त्रिनेत्रा, यौवनस्था, सिंहारूढ़ा, क्रुद्धा, ऊर्ध्वस्थिता, मध्य भाग में कृश, विशालाक्षी, चारुपीनपयोधरा, एक मुख तथा सुंदर ग्रीवावाली होती है। इसके बीस भुजाएँ होती हैं जिनमें शूल, खड्ग, शंख, चक्र, बाण, शक्ति, वज्र, अभयमुद्रा, डमरु और छत्र होते हैं। शेष बाईं भुजाओं में नागपाश, खेटक, परशु, अंकुश, धनुष, घंटा, ध्वज, गदा, दर्पण और मुद्गर होते हैं। इसके अतिरिक्त महिषासुर के स्वरूप का जो वर्णन इस ग्रन्थ में दिया है, वह उपर्युक्त शिल्परत्न से उद्धृत किए हुए वर्णन से बहुत मिलता जुलता है।

कात्यायनी का स्वरूप और चरित्र प्रायः वही है जो महिषासुरमर्दिनी का है। अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है।

नन्दा को "भारद्वाजाभिनन्दजा" कहा है। इसकी भुजाओं में वरद मुद्रा, पाश, अंकुश और अब्ज (कमल) होते हैं। यह गौर वर्ण, गजारूढ़ा होती है। इसकी भुजाओं में खड्ग, खेटक भी दिखाए जाते हैं। वराह पुराण में नन्दा को अष्ट भुजा वाली बतलाया है और लिखा है कि यही कालान्तर में महिषासुरमर्दिनी बनी।

नवदुर्गा के नाम पहले लिख आए हैं। नवदुर्गा की पूजा मध्य में एक बड़ी मूर्ति और आस पास आठ दिशाओं के अनुसार मूर्तियाँ बनाकर करते हैं। कभी नवतत्वाक्षरों से भी यंत्र में उनकी प्रतिमा मान ली जाती है। यह एक कमल पर बैठी हुई होती है। मध्य मूर्ति के अठारह भुजाएँ, पीन वक्ष और जंघाएँ बनाते हैं और सर्व अलङ्कारों से संयुक्त करते हैं। इसके बाएँ हाथों में असुर के सिर के बाल, खेटक, घंटा, दर्पण, तर्जनी मुद्रा, धनुष, ध्वजा, डमरू, पाश और दाएँ हाथों

में शक्ति, मुद्गर, शूल, वज्र, शंख, अंकुश, शलाका, बाण और चक्र रहते हैं। दुर्गा की शेष आठ प्रतिमाओं के सोलह भुजाएँ होती हैं। मध्य-दुर्गा अग्निवर्णा होती है; शेष गोरोचन-वर्णा, रक्ता, कृष्णा, शुक्ला, नीला, धूम्रिका, पीता, और पांडुरा होती हैं।

भद्रकाली को अष्टदश भुजा, अलीठासनस्था, चार सिंहों के रथ में विराजमान, अक्षमाला, त्रिशूल, खड्ग, चन्द्र, बाण, धनुष, शंख, पद्म, स्रुक् स्रुव, उद्दक, कमंडलु, दंड, शक्ति, अग्नि, कृष्णाजिन, शान्त मुद्रा और रत्नपात्र धारण किए हुए और तीन नेत्र तथा सुन्दर स्वरूप बनाना चाहिए।

महाकाली—अंजन के समान काली, दंष्ट्रांकित मुखवाली, विशाललोचना, कृशमध्यमा, खड्ग, पात्र, कपाल और खेटकधारिणी, चतुर्भुजा, कबन्ध का हार पहने हुए अथवा त्रिनयना, कालमेघसम-प्रभा, चक्र, शंख, गदा, कुंभ, मुसल, अंकुश, पाश, वज्रधारिणी और आठ भुजाओंवाली बनानी चाहिए।

अम्बा—कुमुद-वर्णाभा होती है और उसके हाथ पाश, पद्म, पात्र और अभयमुद्रा सहित होते हैं।

अम्बिका—सिंहारूढ़ा, त्रिनेत्रा, नानाभरणभूषिता बनानी चाहिए। उसका बायाँ हाथ दर्पण और दायाँ हाथ वरदमुद्रा-युक्त होता है। शेष दोनों हाथों में खड्ग और खेट प्रदर्शित करने चाहिएँ।

मंगला—सिंहासनस्थिता, जटामुकुटमंडिता, शूल, अक्षमाला, वरदमुद्रा, अभयमुद्रा, चाप, दर्पण, शर, खेट, खड्ग, चन्द्रधारिणी, दस भुजावाली, सुरूपा, सुस्तनी, चारुहासिनी, सर्वाभरणभूषांगी, सर्वशोभासमन्विता बनानी चाहिए।

सर्वमंगला—सिंहारूढ़ा, अक्षमाला, पद्म दक्षिण हाथों में

शूल तथा बाएँ हाथों में कुंडी धारण करती हुई चतुर्बाहुवाली बनानी चाहिए।

कालरात्रि—एक वेणीवाली, जपा कुसुम के कर्णाभरणवाली, नग्न, गधे पर चढ़ी हुई, लम्बे ओंठवाली, कुंडल धारण किए हुए, तैल से लिपटे हुए शरीरवाली बनानी चाहिए। उसके बाएँ पाँव में लोहे का कड़ा पहनाना चाहिए और श्याम वर्ण की महा भयंकर मूर्ति बनानी चाहिए।

ललिता—खड़ी हुई, सर्वाभरणभूषिता, बाएँ दो हाथों में शंख और आदर्श (आइना) और दाएँ हाथों में फल और सुरमादानी लिए हुए होनी चाहिए।

गौरी—कुमारी के स्वरूपवाली, कमलासना बनानी चाहिए। यदि दो भुजाएँ बनाई जायँ तो वे वरद और अभयमुद्रा-युक्त हों, अन्यथा चार भुजाएँ, अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और अभयमुद्रा धारण की हुई बनानी चाहिएँ।

उमा—की चारों भुजाओं में क्रमशः अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और कमल दिखाए जाते हैं।

पार्वती—'रूपमंडन' के अनुसार चार भुजावाली बनानी चाहिए और उनमें अक्षमाला, शिव, गणेश और कमंडलु रहें। इस देवी का स्थान अग्निकुंडों के मध्य बताया गया है। इसकी एक अन्य प्रकार की भी मूर्ति लिखी है। वह गोधासनाश्रिता (मगर पर बैठी हुई) होती है और धन के चाहनेवाले उसे अपने घरों में पूजते हैं। उसके चार भुजाएँ होती हैं जिनमें अक्षसूत्र, पद्म, वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित की जाती है।

रम्भा—कमंडलु, अक्षमाला, वज्र और अंकुश धारण किए हुए गजासनस्थिता बनानी चाहिए।

सीतला—सर्व-पाप-प्रणाशिनी मानी गई है। उसकी प्रतिमा शूल,

अक्षसूत्र, दंड और श्वेत चामर धारण किए हुए चतुर्भुजावाली होती है।

त्रिपुरा—के चारों हाथों में क्रमशः नागपाश, अंकुश, अभय और वरद मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिए।

गौरी, उमा, पार्वती, रम्भा, तोतला त्रिपुरा ये गौरी के ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

गौरी के आयतन (मन्दिर) में गौरी की प्रतिमा के वाम भाग में सिद्धि और दक्षिण में श्री, पृष्ठ कर्ण भाग में भगवती और सरस्वती, ईशान में गणेश और अग्निकोण में कुमार होने चाहिएँ। गौरी की आठ द्वारपालिकाएँ हैं। वे सब अपना एक हाथ अभय मुद्रा में और दूसरा दंड धारण किए हुए रखती हैं; परंतु जया और विजया के तीसरे और चौथे हाथों में अंकुश और पाश, अजिता और अपराजिता के हाथों में पद्म और पाश, विभक्ता और मंगला के हाथों में वज्र और अंकुश तथा मोहिनी और स्तम्भिनी के हाथों में शंख और पद्म होते हैं।

भूतमाता—विशालाक्षी द्विभुजा परंतु श्याम-वर्णा होती है। इसके मुख का रंग श्वेत अथवा रक्त होता है। इसके सिर पर एक लिंग होता है और हाथों में खड्ग और खेटक। यह सिंहासन पर विराजती है और सिर पर मुक्ताभरण पहनती है। यह अश्वत्थ वृक्ष के नीचे निवास करती है और विशेषतः भूत, प्रेत, पिशाच और इन्द्र, यक्ष और गन्धर्वादि भी इसकी सेवा करते हैं।

योगनिद्रा*—शयनारूढ़ा, सुसौम्या बनानी चाहिए। उसके दो

---

* निद्रा तु शयनारूढ़ा सुसौम्या मुकुलेक्षणा।
पानपात्रधरा चेयं द्विभुजा परिकीर्तिता ॥

यह श्लोक विष्णुधर्मोत्तर का है; परंतु पद्मसंहिता में "मुकुलेक्षणा" के स्थान में "कमलेक्षणा" और "पानपात्रधरा के" स्थान में "पाशपात्रधरा" पाठ है।

भुजाएँ होती हैं। उसके नेत्र मुँदे हुए और उसके समीप एक जलपात्र रखा हुआ प्रदर्शित करना चाहिए।

भूमि*—अथवा भू देवी विष्णु की पत्नी मानी गई है। यह सम्बन्ध कदाचित् वराह अवतार से गाँठा गया हो। भूमि देवी सस्य के अंकुर के सदृश वर्णवाली, करंड मुकट धारण किए हुए, सर्वोभरणभूषिता, पीताम्बरधरा, और प्रसन्न-वदना होनी चाहिए। इसके दो भुजाएँ होती हैं जिनमे पद्म अथवा उत्पल प्रदर्शित किए जाते हैं। भूमि की प्रतिमा पद्मपीठ पर खड़ी हुई अथवा बैठी हुई बनाया करते

---

* सस्याङ्कुरनिभा भूमिर्नीलालकसमन्विता ।
करण्डमुकुटोपेता सर्वाभरणभूषिता ॥
पीताम्बरधरा चैव प्रसन्नवदनान्विता ।
पद्मं वाप्युत्पलं वाथ उभयोर्हस्तयोर्धृतम् ॥
पद्मपीठोपरिष्टात्तु आसीना वास्थितापि वा ।

(अंशुमद्भेदागमे एकोन-पञ्चाशपटले)

शुक्लवर्णा मही कार्या दिव्याभरणभूषिता ।
चतुर्भुजा सौम्यवपुश्चन्द्रांशुसदृशाम्बरा ॥
रत्नपात्रं सस्यपात्रं पात्रमोषधि-संयुतम् ।
पद्मं करे च कर्त्तव्यं भुवो यादवनन्दन ॥
दिग्गजानां चतुर्णां च कार्या पृष्ठगता तथा ।
सर्वौषधियुता देवी शुक्लवर्णा ततः स्मृता ॥

(विष्णुधर्मोत्तरे)

श्यामवर्णनिभा भास्वद्राजीवसमलोचना ।
हैमयज्ञोपवीता च द्विभुजा च द्विनेत्रका ॥
सर्वाभरणसंयुक्ता करण्डमुकुटान्विता ।
रक्ताम्बरधरा चैव दक्षहस्तोत्पलान्विता ॥
वरण्याकृतिरेवं स्याज्ज्येष्ठयाकृतिरुच्यते ।

(पूर्वकारणागमे द्वादशपटले)

इसमें पृथ्वी सम्बन्धी सब बातें आ जाती हैं। पृथ्वी से रत्न, घास, ओषधि और पुष्प उत्पन्न होते हैं जो हाथों में दिखा दिए गए हैं।

हैं। यह स्वरूप विष्णु के साथ विराजित भू देवी का अंशुमद्भेदागम के अनुसार है। पूर्वकारणागम में ऐसा वर्णन है कि इस देवी का वर्ण श्याम, एवं वह राजीव सम लोचनवाली, रक्ताम्बर तथा हेम यज्ञोपवीत पहने हुए होनी चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार यह शुक्ल वर्णा होनी चाहिए और इसकी चार भुजाओं में क्रमशः रत्न-पात्र, सस्य-पात्र, ओषधि-पात्र तथा कमल होने चाहिएँ। इसे चार दिग्गजों के पृष्ठगत दिखाना चाहिए। यह वर्णन उस अवस्था का है जब वह स्वयं प्रधाना अर्थात् मुख्य अर्चनीय देवी हो। लक्ष्मी और भू देवी के अतिरिक्त अन्य भी विष्णु-पत्नियाँ हैं; उदाहरणार्थ सीता, रुक्मिणी, सत्यभामा, राधा आदि।

सरस्वती—चतुर्हस्ता, श्वेत-पद्मासनासीना, जटा-मुकुट-संयुक्ता, शुक्लवर्णा, श्वेतवस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारिणी और रत्नकुंडल-मंडिता होनी चाहिए। उसका दाहिना एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में और दूसरा अक्षमाला धारण किए हुए और बायाँ एक हाथ पुस्तक और दूसरा पुंडरीक धारण किए हुए होना चाहिए। सरस्वती सुचारु रूपिणी, ऋषियों से ऋक्, यजु, साम गीतों से सेवित प्रदर्शित करनी चाहिए, ऐसा अंशुमद्भेदागम का निर्णय है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सरस्वती समुस्थित अर्थात् खड़ी हुई, दक्षिण हाथों में पुस्तक और अक्षमाला और वाम हाथों में वीणा और कमंडलु धारण किए हुए होनी चाहिए। अंशमद्भेदागम के अनुसार सरस्वती के कुंडल रत्नों के, परंतु पूर्वकारणागम के अनुसार मोती के होने चाहिएँ। स्कन्द पुराण की सूत संहिता में सरस्वती को जटाजूटधरा, शिखर पर चन्द्रार्ध धारे, नीलग्रीवा और त्रिलोचना बतलाया है।

मारकण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य में सरस्वती को अंकुश, वीणा, अक्ष-माला और पुस्तक धारण किए हुए वर्णन किया है। यहाँ पर इसे शिव स्वरूप प्रदर्शित किया है। वस्तुतः जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही

ईश्वर के स्वरूपत्रय हैं, इसी प्रकार स्त्रीरूप में लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती एक ही ईश्वर के स्वरूपत्रय है।

सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति के विषय में ऐसा वर्णन है कि कश्यप के दिति से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए, जो वराह और नृसिंह अवतार में मारे गए। हिरण्याक्ष का पुत्र प्रह्लाद हरि-भक्त हुआ; और तदनंतर ब्रह्मा से तप द्वारा वर माँग अंधकासुर असुराधिपति हो कालान्तर में देवगण को संत्रस्त करने लगा। देवगण महादेव के पास गए और इसी अवसर पर वह असुर भी पार्वती का हरण करने के विचार से कैलास पर आया। शिव ने त्रिशूल से वासुकी, तक्षक और धनंजय सर्पों की मेखला बनाई और नील नामक राक्षस को, जो हाथी के स्वरूप में शिव के घात में आया था, वीरभद्र द्वारा मार उसका गज-चर्म ओढ़ लिया। शिव ने असुर पर प्रहार किया; परंतु ज्यों ज्यों रुधिर बिंदु पृथ्वी पर पड़ने लगे, त्यों त्यों प्रत्येक बिंदु से एक नवीन अंधकासुर बनने लगा। अन्त में शिव ने असुर को एक मार्मिक घात किया और उसके मुख से जो ज्वाला निकली, उससे "योगेश्वरी" शक्ति का निर्माण कर उसके रुधिर को पृथ्वी पर गिरने से रोका। विष्णु ने अपने चक्र से शेष असुरों का संहार किया। इस अवसर पर इन्द्रादि देवताओं ने अपनी शक्तियाँ शिव के सहायतार्थ समर्पण की थीं और उनके नाम ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी (कुमार की शक्ति), वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुंडा (यम की शक्ति) थे। ये ही सप्त मातृकाएँ हैं और इनके वे ही वाहन, आयुध, आभरण और ध्वजाएँ हैं जो इनके मुख्य देवों के हैं।

वराहपुराण ने इन सात देवियों के साथ योगेश्वरी को भी सम्मिलित किया है और इन्हें मन की वृत्तियाँ माना है; अर्थात् योगेश्वरी काम, माहेश्वरी क्रोध, वैष्णवी लोभ, ब्रह्माणी मद, कौमारी मोह, इन्द्राणी

मात्सर्य, यमी अथवा चामुंडा पैशुन्य और वाराही असूया की द्योतक हैं। उस पुराण में लिखा है कि यह आत्मविद्या का रूपक वर्णन किया गया है (एतंते सर्वमाख्यातमात्मविद्यामृतम्)। अंधकासुर अविद्यान्धकार है। विद्या शिव रूप में प्रदर्शित की गई है। विद्या जितना अधिक अविद्या पर आक्रमण करती है, प्रारम्भ में उतनी ही अधिक अविद्या उसका सामना करती है; यही बिंदु बिंदु से अंधकासुर की उत्पत्ति का तात्पर्य है। काम, क्रोधादि अष्ट दोष जब तक पराजित नहीं किए जाते, तब तक अविद्या का दमन नहीं हो सकता। यही तात्पर्य योगेश्वरी की उत्पत्ति तथा सप्तमातृकाओं द्वारा अंधकासुर के संहार के रूपक से प्रदर्शित किया गया है।

ब्रह्माणी—हेमप्रभा, चतुर्भुजा, चतुर्मुखी, पद्मासीना, हंसवाहिनी और हंसध्वजा होती है। उसकी सामने की दो भुजाएँ अभय और वरद मुद्रा में और पीछे की दो शूल और अक्षमाला धारण किए हुए होती हैं। वह शरीर पर पीताम्बर और शिर पर करंड मुकुट धारण करती है और पलाश वृक्ष के नीचे विराजमान रहती है। यह अंशुमद्भेदागम के अनुसार लिखा गया है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इसके छः भुजाएँ होनी चाहिएँ। बाईं तीन अभय मुद्रा, पुस्तक और कमंडलु तथा दाहिनी तीन वरदमुद्रा, सूत्र और स्रुव धारण किए हुए हों।

वैष्णवी—की दो भुजाएँ अभय और वरद मुद्रा दर्शक और दो शंख और चक्र धारण किए हुए होती हैं। इसका वर्ण श्याम होता है। यह किरीट मुकुट धारण करती है और राजवृक्ष के नीचे विराजमान रहती है। विष्णुधर्मोत्तर में इसकी छः भुजाएँ गदा, पद्म, शंख, चक्र, धारण किए और अभय और वरद मुद्रा-युक्त बतलाई गई हैं। देवी पुराण में इसको वनमाला पहने हुए तथा चारों भुजाओं में क्रमशः शंख, चक्र, गदा, पद्म, धारण किए हुए बतलाया है।

इंद्राणी—के तीन नेत्र और चार भुजाएँ होती हैं जिनमें से दो

वज्र और शक्ति और शेष दो वरद तथा अभय मुद्रा-युक्त होती हैं। इसका वर्ण रक्त होता है। सिर पर किरीट और शरीर पर नाना आभरण होते हैं। इसका निवास कल्पक वृक्ष के नीचे माना है और यह गजवाहिनी और गजध्वज बनाई जाती है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इसे सहस्राक्षी तथा छः भुजावाली—चार में सूत्र, वज्र, कलश, और पात्र लिए एवं शेष दो वरद और अभय मुद्रा-युक्त—होनी चाहिए। देवी पुराण में इसे अंकुश और वज्र धारण किए हुए ही बताया है और पूर्वकारणागम में इसके केवल दो ही नेत्र बताए गए हैं।

चामुंडा—रक्तवर्णा, चतुर्भुजा और त्रिनेत्रा होती है। इसके बाल बहुत बिखरे हुए होते हैं। इसके दो हाथ कपाल और शूल और दो वरद और अभय मुद्रा धारण किए होते हैं। वह पद्मासन पर बैठी हुई, यज्ञोपवीत के स्वरूप में मुंड माला धारण किए हुए होती है। वह सिंहचर्म पहनती है और गूलर के वृक्ष के नीचे निवास करती है। विष्णुधर्मोत्तर ने इसे कृशोदरी तथा दशभुज बतलाया है, जिनमें मूसल, कवच, बाण, अंकुश, खड्ग, खेटक, पाश, धनुष, दंड और परशु होते हैं। पूर्वकारणागम में इतना और है कि इसका मुख खुला हुआ तथा सिर पर शिव के समान चन्द्र विराजित होना चाहिए। इस ग्रन्थ में इसका वाहन उलूक और ध्वजा में गिद्ध का चिह्न बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इस के एक हाथ में मांस पिंडों से भरा कपाल और दूसरे में अग्नि प्रदर्शित करनी चाहिए। यह कानों में शंखपत्र के कुंडल पहनती है।

माहेश्वरी—चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा, अतिरक्तवर्णा, जटामुकुट-संयुता होनी चाहिए। इसके दक्षिण हस्त शूल और अभय मुद्रा तथा बाएँ हस्त जपमाला और वरदमुद्रा धारण किए हुए होने चाहिएँ। विष्णु-धर्मोत्तर में इसे वृषारूढ़ा, पंचवक्त्रा, त्रिलोचना, शुक्लेन्दुधारिणी, जटा-जूटा तथा षड्भुजा बताया है। दक्षिण हाथों में वरद मुद्रा, सूत्र और

डमरू तथा बाएँ हाथों में शूल, घंट और अभयमुद्रा होनी चाहिए।

कौमारी—के चार भुजाएँ होती हैं—दो अभय और वरद मुद्रा-युक्त और दो शक्ति और कुक्कुट धारण किए हुए। उसका वाहन मयूर है और मयूर ही उसकी ध्वजा का चिह्न भी है। उसका निवास उदुम्बर वृक्ष के नीचे होता है। विष्णुधर्मोत्तर में उसके छ: मुख और बारह भुजाएँ वर्णन की गई हैं, दो भुजा वरद और अभय मुद्रायुक्त तथा शेष शक्ति, ध्वज, दंड, धनुष, बाण, घंट, पद्मपात्र और परशु धारण किए हुए होती हैं। देवी पुराण में इसके लिये लाल पुष्पों की माला बनाने का विधान है और पूर्वकारणागम में कुक्कुट के स्थान में अंकुश बतलाया गया है।

वाराही—का मुख शूकर का सा और वर्ण नील मेघों का सा होना चाहिए। उसके सिर पर करंड मुकुट और शरीर पर मूँगे के आभरण होते हैं। वह कल्प वृक्ष के नीचे निवास करती है तथा हल और शक्ति धारण करती है। उसका वाहन हाथी है और हाथी ही उसकी ध्वजा का चिह्न भी है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उसके बड़ा पेट और छ भुजाएँ होनी चाहिएँ और उनमें दंड, खड्ग, खेटक, पाश, अभय और वरद मुद्रा होनी चाहिए। पूर्वकारणागम में शार्ङ्ग धनुष, हल और मूसल आयुध तथा चरणों में नूपुर धारण करने का वर्णन है।

सप्तमातृकाओं की प्रतिमा के समीप एक ओर गणेश और दूसरी ओर वीरभद्र की प्रतिमा होनी चाहिए। वीरभद्र नाना आभरणों से समलंकृत, जटा-मुकुट धारण किए हुए, श्वेत वर्ण और चतुर्भुज होना चाहिए। उसका एक दक्षिण हस्त अभयमुद्रा और दूसरा शूल धारण किए हुए, और एक वाम हस्त वरद मुद्रा और दूसरा गदा धारण किए हुए होना चाहिए। उसकी प्रतिमा वट वृक्ष के नीचे पद्मासनासीन प्रदर्शित की जाती है, उसकी ध्वजा का चिह्न वृष है। गणेश को पद्म-पीठ पर आसीन अथवा स्थित दिखाना चाहिए।

ज्येष्ठा देवी की पूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हुई जान पड़ती है। बोधायन गृह्यसूत्र में इस देवी का वर्णन मिलता है। अभी ऐसे कई एक मन्दिर विद्यमान हैं जिनके एक कोने में इस देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, परंतु उसकी पूजा नहीं की जाती। कई एक मन्दिरों में इस देवी की प्रतिमा अपने स्थान से उठाकर अलग फेंकी हुई मिलती है।

ज्येष्ठा देवी—के दो नेत्र, दो भुजाएँ, बड़े बड़े गाल, नाभी तक लटकते हुए कुच, ढीला पेट, मोटी मोटी जँघा, ऊँची उठी हुई नाक और नीचे का ओष्ठ लटकता हुआ होना चाहिए। इसका वर्ण काली स्याही के समान होता है और यह भद्रासन पर पैरों को लटकाए हुए प्रदर्शित की जाती है। इसके बाल पिंडी की तरह बाँधे हुए होते हैं और इसके ललाट पर तिलक और सिर पर मुकुट लगा देते हैं। यह दाहिने हाथ में नीलोत्पल धारण करती है और वाम हस्त अभयमुद्रा धारण किए हुए अथवा आसन पर धरे हुए होती है। ज्येष्ठा देवी की प्रतिमा के दक्षिण भाग में दंड और पाश धारण किए हुए वृष के मुखवाला दो भुजाओंवाला मनुष्य बनाते हैं जो इसका पुत्र है। इसके वाम भाग में ऐसी ही एक स्त्री की प्रतिमा, जो इसकी पुत्री बताई जाती है और जिसका नाम "अग्निमठ" भी मिलता है, बनाई जाती है। ज्येष्ठा देवी का वाहन गधा और ध्वज में कौवे का चिह्न रहता है। इसका आयुध झाड़ू भी बनाया जाता है।

समुद्र-मन्थन के अवसर पर ज्येष्ठा देवी लक्ष्मी से पहले उत्पन्न हुई थी। जब किसी ने भी इससे विवाह नहीं करना चाहा, तब कपिल इसे ले गए और उन्होंने इसका पाणि-ग्रहण किया; अतः इसका नाम कपिल-पत्नी भी प्रसिद्ध है। ज्येष्ठादेवी के दो भेद हैं-एक रक्त ज्येष्ठा, दूसरा नील ज्येष्ठा। इनकी प्रतिमाओं में बहुत अन्तर नहीं है।

लिङ्ग पुराण में लिखा है कि जब समुद्र का मंथन किया गया था,

तब पहले कालकूट विष निकला, तदनन्तर ज्येष्ठा देवी। दुःसह नाम के ऋषि ने इससे विवाह किया और वे इसे अपने घर ले जाने लगे। परंतु मार्ग में जहाँ कहीं विष्णु अथवा शिव का गुणगान होता था, वहाँ पर यह अपने कान बन्द कर लेती थी। एक बार वे तपोवन में अपनी पत्नी सहित गए। वहाँ यह ज्येष्ठा देवी उनके ईश्वराराधन को न सह सकी। निदान उन्हें वहाँ से लौटना पड़ा। उसी समय मार्कण्डेय भी आ गए और उन्होंने सब वृत्तान्त अवगत कर दुःसह को ज्येष्ठा देवी के साथ ऐसे स्थानों में, जहाँ स्त्री पुरुषों में कलह हो, जहाँ बौद्ध अथवा अवैदिक अर्चनाएँ होती हों, जहाँ बड़े छोटों की परवाह न कर प्रसन्न रहते हों, इत्यादि स्थानों को, जाने को कहा। तदनन्तर दुःसह ने ज्येष्ठा से कहा कि मैं रसातल में तुम्हारे और अपने रहने के योग्य स्थान ढूँढने जाता हूँ। जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम यहीं रहना। तब से दुःसह ने अपनी शकल नहीं दिखाई। बेचारी ज्येष्ठा उनको याद कर भटकने लगी। एक बार विष्णु उसे मिल गए और उसने उनसे अपना दुखड़ा कहा। विष्णु ने उसे अपने अनन्य भक्तों के पास जाने और उनके साथ रहने की आज्ञा दी। ज्येष्ठा देवी अलक्ष्मी है।

त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्त-सारावली में लिखा है कि यमा के स्वरूप में परा शक्ति पंच कृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, और अनुग्रह) की कर्तृ है। अतः वह आठ तत्वों के अनुरूप आठ स्वरूप धारण करती है। यमा पृथ्वीमयी, ज्येष्ठा जलमयी, रुद्रा अग्न्याकारा, काली वायव्याकारा, कलविकर्णी आकाशरूपिणी, बलविकर्णी चन्द्ररूपिणी, बलप्रमथनी सूर्यरूपा है। इसके दो स्वरूप और हैं- सर्वभूत-दमनी आत्मरूपा और मनोमयी पराशक्ति।

ज्येष्ठा जलमयी है और "स्थिति" की द्योतक है। जल का मूर्तीश्वर ज्येष्ठ है; अतः यह ज्येष्ठा देवी कहलाती है।

हम समझते हैं कि पाठक महाशय देवियों का वृत्तान्त पढ़ कर उकता

गए होंगे। हम सब देवियों का परिचय नहीं करा सके और न करा ही सकते हैं; क्योंकि इनकी संख्या गणनातीत है। बंगाल ने अनेक देवियाँ बनाई हैं—कलविकर्णिका, बलविकर्णिका, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी, चामुंडा के कई भेद, शिवदूती, योगेश्वरी, भैरवी, त्रिपुरभैरवी, शिवा, कीर्ति, सिद्धि, ऋद्धि, क्षमा, दीप्ति, रति, श्वेता, भद्रा, जया, विजया, जयंती, दिति, अरुन्धती, अपराजिता, सुरभी, कृष्णा, इन्द्राक्षी, अश्वारूढ़ा, भुवनेश्वरी, बाला, राजमातंगी, शीतला आदि इतनी देवियाँ हैं कि जिनका विस्तार-भय से वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। उनमें तुलसीदेवी, अन्नपूर्णा और महालक्ष्मी प्रसिद्ध देवियाँ हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन लिखकर इस लेख के इस अंश को समाप्त करते हैं।

तुलसी माहात्म्य के वर्णन के अनुसार तुलसी की प्रतिमा श्याम, कमल लोचनवाली, चतुर्भुजा होनी चाहिए। उसकी दो भुजाओं में पद्म और कल्हार और दो अभय और वरद मुद्रायुक्त होनी चाहिएँ। उसे किरीट, हार, केयूर, कुंडल आदि आभरणों से समलंकृत कर धवल वस्त्र पहना पद्मासन पर विराजमान करना चाहिए।

अन्नपूर्णा का मुख पूर्ण चन्द्र के समान बनाना चाहिए। उसके शरीर का रंग रक्त, उसके कुच उठे हुए, दो हाथों में मधु से भरा हुआ माणिक्य-पात्र तथा अन्न से पूर्ण रत्नदर्वी (चमचा) प्रदर्शित की जाती है। जब चार हाथ बनाते हैं, तब दो में पाश और अंकुश और दो अभय और वरद मुद्रायुक्त दिखाते हैं। यह मूर्ति यौवनवती और बड़ी रम्य बनानी चाहिए और इसे नानालंकारयुक्त करना चाहिए।

लक्ष्मी के श्री, पद्मा, कमला आदि नाम हैं। इसकी प्रतिमा पद्मासन पर बैठी हुई तथा दोनों हाथों में पद्म धारण किए हुए बनाई जाती है और गले में कमल के फूलों की माला भी पहना दी जाती है। इसके दोनों ओर सूँड को ऊँचे किए हुए दो हाथी दिखाए जाते हैं। अंशुमद्भेदागम में ऐसा वर्णन है कि लक्ष्मी की प्रतिमा पद्मासनासीना, द्विभुज

कांचनप्रभा, हेमरत्न, नक्र, कुंडलादि कर्णाभरणों से मंडित होनी चाहिए। यह सुयौवना, सुरम्यांगी, रक्ताक्षी पीनगंडा, कंचुक से आच्छादित स्तन-वाली बनानी चाहिए। इसके दक्षिण हस्त में कमल और वाम में श्री-फल होना चाहिए। यह सुमध्या, विपुल-श्रोणी, सुंदर वस्त्रवाली, सर्वा-भरण-भूषिता होनी चाहिए।

शिल्परत्न में लक्ष्मी का वर्ण श्वेत बतलाया है और लिखा है कि दो स्त्रियाँ इसके चँवर डोलाती हुई प्रदर्शित करनी चाहिएँ। जब लक्ष्मी को विष्णु के साथ बनाते हैं, तब दो ही भुजाएँ बनाई जाती हैं; अन्यथा चार। महालक्ष्मी का स्वरूप विश्वकर्मशास्त्र के अनुसार एक सुन्दर छोटी कन्या के सदृश, रूपाभरणभूषित, नीचे के दाहिने हाथ में एक पात्र, ऊपर के में कौमोदकी गदा, नीचे के बाएँ हाथ में श्रीफल, ऊपर के हाथ में खेटक, मस्तक में एक लिंग धारण किए हुए होना चाहिए। कोल्लापुर में महालक्ष्मी का एक प्राचीन मन्दिर है। उपर्युक्त वर्णन वहीं की प्रतिमा का है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोध संबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ५—संवत् १९८१

संपादक—

राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

ग. कृ. गुर्जर द्वारा श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबर काशी में मुद्रित

लेख-सूची

१—मुगल बादशाहों के जुलूसी सन् (राज्यवर्ष) पृष्ठांक
[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद
ओझा, अजमेर] १–५६
२—फारसी भाषा का एक ऐतिहासिक गद्य-पद्यमय काव्य
[लेखक—बाबू ब्रजरत्नदास, काशी] ... ५७–७४
३—रोला छंद के लक्षण
[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०,
अयोध्या] ७५–८१
४—संस्कृत साहित्य की विदुषी स्त्रियाँ
[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय, एम० ए०,
काशी] ८३–९७
५—शुंग वंश का एक शिलालेख
[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०,
अयोध्या] ९९–१०४
६—भगवंतराय खीची
[लेखक—बाबू ब्रजरत्नदास, काशी] ... १०५–१३१
७—पृथ्वीराज-विजय
[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर] १३३–१८३
८—'सुरे' शब्द की उत्पत्ति
[लेखक—ठाकुर चतुरसिंह, बड़ी रूपाहेली,
मेवाड़] १८५–१९०
९—कवि जदुनाथ का 'वृत्तविलास'
[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद
ओझा, अजमेर] १९१–२००

१०—सेनापति पुष्यमित्र और अयोध्या का शिलालेख
[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर] २०१–२०७

११—शुंग वंश का नया शिलालेख
[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए० अयोध्या] २०९–२१२

१२—महाभाष्य में शूद्र
[लेखक—पंडित माँगीलाल काव्यतीर्थ, अजमेर] २१३–२२४

१३—आमेर के महाराज सवाई जयसिंह के ग्रंथ और वेध-शालाएँ
[लेखक—पंडित केदारनाथ शर्म्मा, राजपंडित, जयपुर] २२५–२३२

१४—समालोचना २३३–२४६

१५—दंडी की अवंति-सुंदरी-कथा
[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय एम० ए०, काशी] २४७–२६५

१६—सोमेश्वरदेव और कीर्तिकौमुदी के संबंध में स्फुट टिप्पणियाँ
[लेखक—पंडित दत्तात्रेय बालकृष्ण डिस्कलकर एम० ए०, राजकोट] २६७–२७१

१७—कबीर
[लेखक—पंडित शिवमंगल पांडेय बी० ए० विशारद, काशी] २७३–२९३

१८—मंत्री कर्मचन्द्र
[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर] २९५–३१२

१९—महाराणा साँगा या संग्रामसिंह जी
[लेखक—बाबू रामनारायण दूगड़, उदयपुर] ३१३–३६८

२०—चतुर्विंशति प्रबन्ध
[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ३६९–३८४
२१—हिंदी के कारक-चिह्न
[लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्मा एम० ए०,
काशी] ३८५–४३३
२२—क्षत्रियों के गोत्र
[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द
ओझा, अजमेर] ४३५–४४३
२३—प्रतिमा परिचय
[लेखक—पंडित शिवदत्त जी शर्म्मा, अजमेर] ४४५–४९१